पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 32 जनवरी–फरवरी 2011

संपादक

भारत भारद्वाज

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता
अंक : 32 जनवरी-फरवरी 2011

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© संबंधित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

एक अंक : ₹ 20
वार्षिक सदस्यता : ₹ 120
दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक ₹ 145 रु. और द्वैवार्षिक ₹ 265। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/ड्रॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा), म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

संपादकीय, बिक्री और वितरण केंद्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
ब्लॉक-सी/60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017
टेली-011-26677365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com
011-41683875 मो.-09313034049 (संपादकीय)
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: अरे यायावर रहेगा याद : अज्ञेय	4
उपन्यास	: **मैं प्रेम दीवानी**/ बीर पाल सिंह यादव	7
	: **उत्तर-आधुनिक समय में औपन्यासिक हस्तक्षेप**/ प्रेम शशांक	9
	: **हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता**/ अर्पण कुमार	12
कहानी	: **कहानियों में हाशिए पर के लोग**/ प्रेमशीला शुक्ल	14
	: **कौतुकी शिल्प से परे**/ अरुण देव	16
	: **जीवनस्पर्श की कहानियां : तीसरी बीवी**/ संजय कुमार सेठ	18
कविता	: **काल शाश्वत का जीवंत अभिलेखागार**/ कुबेर दत्त	20
	: **कविताओं में जीवन और जीवन में कविताएं**/ पुखराज जाँगिड़	24
	: **कविता की नई जमीन की तलाश**/ माधवेंद्र	26
	: **अंधकार की कविताएं**/ विजेन्द्र नारायण सिंह	28
	: **लुप्त-विस्मृत जीवन सत्वों को सहेजने का जतन**/ रामरती मलिक	30
आलोचना	: **मर्मग्राहिणी संवेदना का कर्म-सौंदर्य**/ श्याम कश्यप	32
	: **साहित्येतिहास के बहाने रामविलास शर्मा की इतिहास-दृष्टि**/ रमाकान्त राय	36
आत्मकथा	: **जीवंत कवि की जीवंत आत्मकथा**/ अरविंद मोहन	38
थिएटर/नौटंकी	: **नौटंकी की मलिका : गुलाबबाई**/ सुभाष शर्मा	40
हास्य-व्यंग्य	: **एक विरल सर्जनशीलता**/ नंदकिशोर नवल	44
संगीत	: **कुंदन सहगल जीवन और संगीत में**/ राजेन्द्र उपाध्याय	46
चित्रकला	: **शब्दों के साथ कला की यात्रा**/ सुनील कुमार यादव	47
पुरखों के कोठार से	: **प्रेमचंद पर नई खोज!**/ भारत यायावर	49
फिल्मवार्ता	: **एनिमेशन फिल्मों की दुनिया**/ महेश्वर	51
हस्तक्षेप	: **तट पर, लेकिन तटस्थ नहीं**/ अनंत विजय	53
और अंत में	: **हिन्दी साहित्य : वर्ष 2010 : एक चयन**	55

स ं प ा द की य

अरे यायावर रहेगा याद : अज्ञेय

वर्ष 2010-11 हिंदी के चार शीर्ष कवियों—अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल के साथ प्रसिद्ध गीतकार गोपाल सिंह नेपाली, भारतीय संस्कृति के चिंतक भगवत शरण उपाध्याय और कहानीकार-नाटककार भुवनेश्वर का जन्मशती वर्ष भी है। यह अच्छी बात है कि हम अपने पूर्वज कवियों का संचयन, रचनावली, पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक निकाल करके या फिर अनेक शहरों में उन पर संगोष्ठी आयोजित करके उन्हें याद कर रहे हैं। अगले वर्ष भी यह सिलसिला जारी रहेगा। लेकिन मेरे मन में एक अहम सवाल उठता है कि अब तक हमने इन कवियों का मूल्यांकन ठीक से क्यों नहीं किया। चूंकि इन कवियों में अधिकांशतः को लंबी उम्र मिली। इस कारण भी जन्मशती वर्ष में उनकी याद धुंधली नहीं हुई; वैसे भी पुनर्मूल्यांकन के लिए इतिहास का एक अंतराल होना चाहिए। लेकिन जब ठीक से इन कवियों का मूल्यांकन नहीं हुआ, पुनर्मूल्यांकन का तो सवाल ही नहीं उठता। अज्ञेय हमारे समय के बेहद खूबसूरत कृति व्यक्तित्व थे। बल्कि कहना चाहिए अज्ञेय में प्रतिभा का रचनात्मक विस्फोट हुआ। लेकिन हमारे समय के इस महान रचनाकार की त्रासदी यह रही कि उनके जीवन में हम उन्हें ठीक से समझ नहीं पाए। अज्ञेय युग प्रवर्तक साहित्यकार थे। साहित्य की शायद ही कोई विधा उनके स्पर्श से अछूती रही लेकिन उनके जीवन में उनके मूल्यांकन की बात तो दूर हमने अपनी छद्म प्रतिबद्धता के कारण उनको साहित्य के हाशिए पर ला दिया। सचमुच यह दुखद बात है कि अज्ञेय जैसे कवि के प्रति अधिकांश आलोचक लगातार उदासीन रहे। उर्दू के प्रसिद्ध अफसानानिगार मंटो के बारे में किसी आलोचक की टिप्पणी थी—मंटो को अच्छे संपादक जरूर मिले, लेकिन अच्छा आलोचक नहीं। यही बात मैं अज्ञेय के प्रसंग में दुहराना चाहता हूं। अज्ञेय, जो पांचवें दशक के आरंभ से लेकर सातवें दशक के अंत तक हिंदी साहित्य में पताका की तरह फहरा रहे थे और जिनको लेकर कविता की कई पीढ़ियों के कवियों और पाठकों में 'क्रेज' था, अचानक लेखक संगठनों की उपेक्षा के शिकार हुए। अब तक उन पर न ठीक से कोई आलोचना की पुस्तक लिखी गई और न ही हिंदी साहित्य में उनके समग्र लेखन का ठीक से मूल्यांकन हुआ। इस बात की पड़ताल करने की जरूरत है। अज्ञेय को उनके जीवन में हमने उनका प्राप्य नहीं दिया।

यदि अज्ञेय के लेखन के चतुर्दिक विकास को आप देखें तो यह न केवल चौंकाता है, बल्कि समकालीन हिंदी आलोचना को शर्मसार भी करता है। 1929 में लाहौर से बी.एस-सी. (प्रथम श्रेणी में प्रथम) उत्तीर्ण यह छात्र हिंदुस्तान रिपब्लिकन पार्टी के चंद्रशेखर 'आजाद', सुखदेव और भगवतीचरण से संपर्क करता है और दिल्ली के हिमालयन टॉयलेट फैक्ट्री के पर्दे में बम बनाने का कार्य करते 15 नवम्बर, 1930 को गिरफ्तार होता है और 1934 तक जेल व मुकदमे का दंश झेलता है। जेल से भेजी कहानियों को जैनेंद्र 'अज्ञेय' नाम से छपवाते हैं। जेल से छूटते न केवल पत्रकारिता की दुनिया में सक्रिय होता है बल्कि 1940 में 'शेखर : एक जीवनी' का पहला खंड प्रकाशित करता है। आप ध्यान में रखें कि 1936 में प्रेमचंद का 'गोदान' निकलता है और 1937 में जैनेंद्र का 'त्यागपत्र'। अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' सहसा उपन्यास की दुनिया में भाषा-शैली के कारण ही नहीं, आधुनिक

भावबोध के कारण भी एक नई लकीर खींचता है। 1943 में 'तारसप्तक' का प्रकाशन और अज्ञेय द्वारा संपादन आधुनिक हिंदी कविता का एक प्रस्थान बिंदु है। अज्ञेय को प्रयोगवाद से अब तक जोड़कर देखा गया लेकिन पिछले दिनों अज्ञेय पर आयोजित एक राष्ट्रीय संगोष्ठी में हिंदी के प्रख्यात आलोचक प्रो. नामवर सिंह ने कहा कि अज्ञेय प्रयोगवादी नहीं थे। लेकिन शब्दों का वैभव अज्ञेय के पूरे कविता संसार में देखा जा सकता है। उन्होंने यहां तक कहा कि अज्ञेय कलात्मक रचाव और काव्य विन्यास के संदर्भ में मुक्तिबोध से आगे हैं। इसे स्वीकार किया जाना चाहिए। अज्ञेय के जीवन में जो नहीं हुआ, अब हो रहा है। यह प्रसन्नता की बात है।

'शेखर : एक जीवनी' का दूसरा भाग 1944 में आया और 1947 में उन्होंने इलाहाबाद से 'प्रतीक' का संपादन किया। 1951 में 'दूसरा सप्तक' निकला और 1959 में 'तीसरा सप्तक'। तब तक समकालीन कविता पर अज्ञेय की पकड़ मजबूत थी। इस बीच निकले उनके कविता संग्रह–'हरी घास पर क्षणभर' (1949) और 'बावरा अहेरी' (1954) ने कवियों की नई पीढ़ी को पागल बना दिया। 1951 में निकला उनका दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' ने भी पाठकों को सम्मोहित किया। अज्ञेय के प्रति नई पीढ़ी का आकर्षण पागलपन की हद तक था। अज्ञेय की काव्यकृति 'कितनी नावों में कितनी बार' के लिए उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया।

लेकिन दुखद बात यह है कि अज्ञेय ने शांतिनिकेतन से निकली एक पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में–'निराला एज ए पोएट, इज डेड' लिखकर निराला को मारा और हिंदी के वामपंथी आलोचकों ने उन्हें अभिजन/कुलीनतावादी कवि-लेखक कहकर उनके जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्हें अपनी उपेक्षा का शिकार बनाया। आठवें दशक में अज्ञेय को साहित्य के हाशिए पर जिस तरह ठेल दिया गया–उसकी फलश्रुति थी कि वे न केवल मीडियाकर लेखकों से घिरते चले गए, बल्कि जानकी जीवन-यात्रा भी करने लगे। क्रांतिकारी कवि-लेखक की यह दुखद परिणति थी। अज्ञेय के कवि-कर्म पर अब तक का लेखन और उनकी जीवनी भी अज्ञेय जैसे महान व्यक्तित्व को ठीक से प्रस्तुत नहीं करते। सचमुच यह हमारे समय की विडम्बना है। अज्ञेय के लेखन में प्रसाद, निराला और मुक्तिबोध की तरह विविधता है, जो यदि एक ओर विस्मित करता है तो दूसरी ओर प्रीतिकर भी लगता है।

हिंदी के एक सुपरिचित आलोचक ने अज्ञेय को अपने प्रिय कवि के रूप में रेखांकित करते हुए टी.एस. इलियट को उद्धृत किया है–आमतौर पर आलोचक अपने प्रिय कवि को श्रेष्ठ कवि सिद्ध करते हैं, जबकि अपेक्षित यह है कि वे कहें कि उन्हें प्रिय तो यह कवि है, लेकिन श्रेष्ठ वह कवि है। लेकिन इसमें साहस की जरूरत है। अज्ञेय मूलतः प्रकृति और प्रेम के कवि हैं। प्रकृति प्रेम की उनकी कविताएं हैं–'दूर्वांचल', 'कतकी पूनो', 'धूप', 'पगडंडी और धावे'। अज्ञेय की कविता में प्रेम का उद्दाम और राग भी कम नहीं है। वस्तुतः अज्ञेय ने अपनी काव्य-संवेदना का भवन प्रेम के शव पर नहीं, पर प्रेम की नींव पर उठाया है। 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर और शशि की जो प्रेम-कथा है, वह उनके संपूर्ण सर्जनात्मक लेखन को प्रेरित और संचालित करती रही है। एक आलोचक ने 'शेखर' को प्रेम का अधूरा ताजमहल कहा था। अपनी परवर्ती प्रेम-कविताओं से अज्ञेय ने उस ताजमहज को पूरा किया है। अज्ञेय की प्रेम-कविताओं में 'पहचान' और 'नंदादेवी-बारह' का उल्लेख किया जा सकता है। कहना न होगा कि अज्ञेय की कविता में प्रकृति प्रेम को संदर्भ प्रदान करती है और प्रेम प्रकृति को सार्थकता।

अज्ञेय के मूल्यांकन में उनके जीवनकाल में हमसे एक बड़ा अपराध यह हुआ कि हमने उन्हें अभिजन, कुलीनतावादी मान लिया। लेकिन अज्ञेय के जीवन पर हम ठीक से गौर करते तो हमें पता चलता–'अज्ञेय का जन्म खंडहरों के शिविर में हुआ था। उसका बचपन भी वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वावशेषों के मध्य बीता। इसी के बीच उसने आरंभिक शिक्षा पाई।' आगे–'अज्ञेय बड़ा संकोची और समाजभीरु है।...एक सीमा है जिसके आगे अज्ञेय अस्पृश्य रहना ही पसंद करता है।'

(अज्ञेय : अपनी निगाह में)

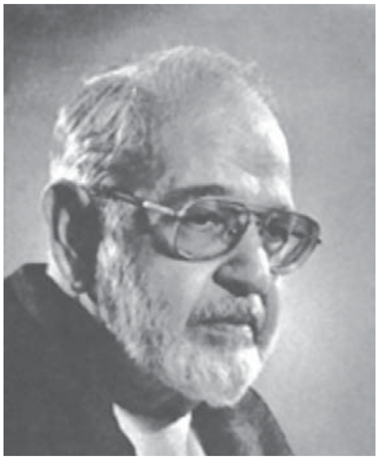

अज्ञेय के प्रति बचपन से मेरा आकर्षण था लेकिन उन्हें नजदीक से देखने का मौका मुझे पहली बार मिला 5 दिसम्बर 1977 को राष्ट्रीय संग्रहालय में आयोजित व्याख्यान–'व्यक्ति और व्यवस्था' के अवसर पर मिला! उनको देखकर मुझे लगा हिंदी में निराला, दिनकर के बाद अज्ञेय का व्यक्तित्व कद-काठी में ग्रीक मूर्तियों की तरह आकर्षक और महान था। अंत में अज्ञेय की एक कविता–'उड़ चल हारिल' की आरंभिक पंक्तियां–'उड़ चल, हारिल, लिये हाथ में यही अकेला ओछा तिनका/उषा जाग उठी–प्राची में–कैसी बाट, भरोसा किनका!'

4 अप्रैल, 1987 को दिल्ली में बस में बैठे कवि श्याम कश्यप के साथ उस दिन के अखबार में प्रकाशित खबर–'अज्ञेय नहीं रहे'–पढ़कर हम अपने गंतव्य को बदलकर कैवेंटर्सलेन गए, जहां अज्ञेय का पार्थिव शरीर पड़ा था और मकान के सामने नीम के पेड़ पर बना वह घर था, जहां उसी दिन कविता पाठ होना था।

'पुस्तकवार्ता' की ओर से सबको नए साल की शुभकामनाएं।

अनुरोध

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के प्रकाशन प्रभारी का अनुरोध है कि पुस्तकवार्ता के समीक्षक समीक्षा प्रकाशनार्थ भेजते समय कृपया अपना बैंक खाता सं. और मोबाइल नं. का उल्लेख जरूर करें ताकि मानदेय का सुविधाजनक भुगतान इन्टरनेट बैंकिंग के द्वारा किया जा सके।

मानदेय के भुगतान में देरी इसलिए भी होती है कि बहुत से चेक सही पता न होने के कारण वापिस आ जाते हैं और पुनः चेक भेजने पर उनकी भुगतान की तारीख समाप्त हो जाती है। साथ ही विश्वविद्यालय को डाक-व्यय का अतिरिक्त भार भी उठाना पड़ता है। **–संपादक**

मैं प्रेम दीवानी

बीर पाल सिंह यादव

'मालवगढ़ की मालविका', 'दबे पाँव प्यार' और 'हवा में बन्द मुट्ठियाँ' के बाद 'टेम्स की सरगम' सन्तोष श्रीवास्तव का नया उपन्यास है। इस उपन्यास के माध्यम से वे चाहती हैं कि उनकी आवाज़ "उन तक पहुंचे जो जिन्दगी और प्रकृति के जरूरी तत्त्व प्रेम को भूलकर मात्र अपने लिए जी रहे हैं और मनुष्यता को ख़त्म कर रहे हैं।" अपने इस चाहत के लिए लेखिका जिस कथा-भूमि की तलाश करके उसे शब्दों में ढालती है, उसका विस्तार हिन्दुस्तान के ब्रिटिश उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट के अन्तिम दौर यानि 1940 से लेकर गुजरात भूकम्प (2001) तक विस्तृत है। दो पीढ़ियों की प्रेम कहानी को कथा लेखिका जिस तरह अपने कथा-भूमि का आधार बनाती है, वह हिन्दी साहित्य एवं सिनेमा के लिए अछूता नहीं है। एक विदेशी युवती, जो भारत (वह भारत जो उसका गुलाम है) के सांस्कृतिक विरासत पर इस तरह मोहित होती है कि उसी की होकर रह जाती है। अपने कृष्ण की तलाश इसी सांस्कृतिक सम्मोहन में करती है और उसकी राधे बन जाती है।

हज़ारों की संख्या में पर्यटक हर साल हिंदुस्तान के इस जादू में खिंचे-चले आते हैं। और यहां आकर अभिभूत होते हैं। भारत में प्रेम के ऐसे सैंकड़ों किस्से भारतीय जनमानस में छिटके पड़े हैं। इन्हीं किस्सों से जयशंकर प्रसाद चंद्रगुप्त और कार्नेलिया की प्रेम कहानी को खोज लाते हैं। इन्हीं किस्सों में से आशुतोष गोववारिकर अपनी फिल्म 'लगान' के लिए भुवन और विक्टोरिया एजिलाबेथ की प्रेम कहानी ढूंढ लाते हैं। ठीक वैसे ही संतोष श्रीवास्तव डायना एवं चंडीदास की प्रेम कहानी ढूंढ लाती हैं।

इन प्रेम कहानियों को ढूंढने के पीछे किसी साहित्यकार या फिल्मकार का एक ही उद्देश्य होता है कि वो जो आज के समय में यानि अपने समय में कहना चाहता है उनके माध्यम से कह सकें। मनुष्यता की रक्षा के लिए एक विकल्प तलाश सकें। यानि इनके पीछे उदात्त सामाजिक उद्देश्य काम करता है।

उपन्यास का आरंभ उस समय से होता है जब "क्रांति अपने चरम पर थी। हर तरफ एक ही आवाज बुलंद थी...आजादी ...आजादी" (पृ. 121) देश की स्वतंत्रता की लड़ाई की आखिरी कील ठोकी जा चुकी थी उसी समय डायना अपने पति ईस्ट इंडिया

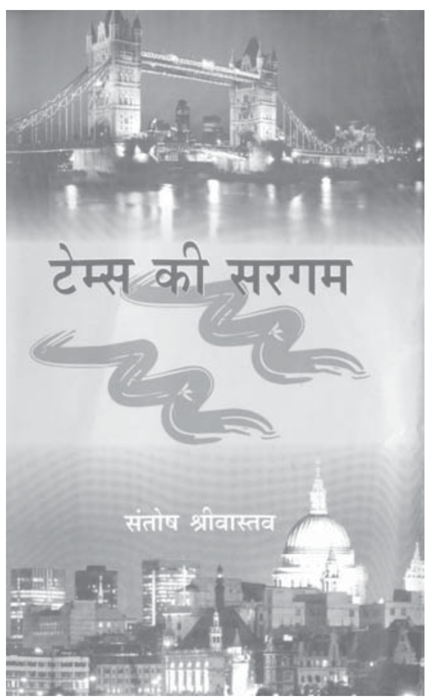

कंपनी का उच्चाधिकारी टॉम ब्लेयर के साथ कलकत्ता शहर में कदम रखती है। लंदन में करोड़ों की संपत्ति की मालकिन डायना अकाल की चपेट में आए बंगाल को देख रही है। "एक ओर अंग्रेजों के शासन की शानदार समृद्धि थी तो दूसरी ओर भारत की अद्भुत सौंदर्यशाली प्रकृति और तमाम रहस्य। उन रहस्यों को परत-दर-परत खोलना चाहती थी डायना। भारत में घी-दूध की नदियां बहती थीं। महलों-मंदिरों के दरवाजों पर हीरे-मोती, पन्ने जड़े थे और इंग्लैंड इस कामधेनु का दोहन कर रहा था।" (पृ. 11)

"टॉम की दुनिया छोटी-सी है जिसमें केवल धन के लिए अथाह मोह है और अपने मालिक होने का घमंड है (पृ. 14)...महीने पंद्रह दिन टूर पर ही रहता है और बाकी के दिन क्लब, बाल रुम्ज दोस्तों के संग शराब, सिनेमा में गुजारता है। घर में उसकी मौजूदगी भी डायना की तनहाई दूर नहीं कर पाती" (पृ. 12) डायना की दौलत से जुनून की हद तक लगाव है उसे। पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति का प्रतीक पुरुष टॉम को शराब पीने के बाद शबाब की जरूरत होती है कितने ही भारतीय स्त्रियों के साथ बलात्कार किया है टॉम ने। ऐसे पति के विपरीत डायना जिसकी दुनिया विस्तृत है क्योंकि उसका मन जिज्ञासु है वह पूरे भारतीय साहित्य, संगीत तथा कला सहित यहां की सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक विरासत से अभिभूत है, वह सबको समेट लेना चाहती है। वह "सीधी सरल...प्रेम से ओत प्रोत है न उसे अपने रूप-सौंदर्य का अभिमान है न दौलत का। संगीत, पुस्तकें, देशाटन ही उसके शौक हैं।" (पृ. 10)

इस प्रकार डायना और टॉम दोनों एक

दूसरे के विपरीत ध्रुव हैं जिन्हें मिलाना असंभव है और यही डायना का स्वभाव एवं कला की कद्र उसे चंडीदास के करीब लाती है उस चंडीदास के, जो ''बचपन में संगीत साधना में रत था। उसकी गायकी में निखार आया शांति निकेतन से। निम्न मध्यवर्ग के परिवार में वह अपने मां-बाप का इकलौता बेटा था। दो बहनें...दोनों उससे छोटी'' (पृ. 12)

चंडीदास से संगीत की शिक्षा ग्रहण करती डायना उसके अनुराग से भर उठती है...सिंदुरी...छिटका अनुराग। वह चंडी से कहती है मैं ''विचित्र संगीत की ध्वनियों के बीच से गुजर रही हूं...मेरे अंदर प्रेम की शक्ति समा रही है जैसे राधा ने किया था कृष्ण से प्रेम...अद्वितीय प्रेम...चंडी प्रेम को जबान नहीं चाहिए। मैं तुम्हारी हूं...हमेशा तुम्हारी ही रहूंगी।'' (पृ. 15)

भारतीय साहित्य तथा संगीत में डूबी डायना से टॉम कहता है ''क्या गुलामों की लिखी किताबें पढ़ती हो। उन पर सिर्फ शासन किया जा सकता है कहते हुए...नशे में डूबा टॉम डायना के बदन से पागलों की तरह खेलने लगा। डायना के हृदय में प्रेम की कलियां सूख गईं...डायना के नयन अश्रुओं से भरे थे। वह पत्नी होने का दंड भुगत रही थी। टॉम बस देह पर हक जताता है और डायना को महसूस होता है जैसे हर बार उसका बलात्कार कर रहा है।'' (पृ. 25)

इस प्रेम कहानी के माध्यम से उपन्यासकार जिस 'प्रेम' के विमर्श को उठाना चाहती है वह इस प्रसंग से स्पष्ट होता है। संतोष श्रीवास्तव इस प्रसंग से हिंदी साहित्य के स्त्री-विमर्श का क्रिटिक रचते हुए यह दिखाती है कि स्त्री को सिर्फ देह नहीं चाहिए, उसे प्रेम चाहिए दया के रूप में नहीं समानता के भाव में। बिना प्रेम के विवाह के बाद सेक्स बलात्कार ही है।

इस विमर्श को और आगे बढ़ाते हुए वे पूरी भारतीय परंपरा के उस मुहावरे को खारिज करती हैं जिसमें पति जैसा भी हो वह भगवान है जब डायना अपने को चंडीदास को समर्पित करती है ''लो–चंडी–मेरे किसना...आज मैं तन से तुम्हारी हुई। देख लो भरपूर देख लो अपने राधे ताकि मेरा अंग-अंग पहचान सको।'' (पृ. 46) इस विमर्श को मुखर करते हुए संतोष श्रीवास्तव डायना के माध्यम से लिखती हैं ''एक तीखा ...सच है कि...विडंबना कि वह टॉम की गुलाम है।...जिस शरीर पर चंडीदास का हक है और जिस शरीर का रोयां-रोयां चंडीदास के लिए व्याकुल है...सामाजिक हक के लिए उसी शरीर को भोग रहा है टॉम...यह कैसी बेबसी है कि उसे टुकड़ा-टुकड़ा बिखरकर टॉम की वासना को शांत करना पड़ रहा है?'' (पृ. 70)

यह विमर्श 'लिव एंड रिलेशन' तक आकर अपने मुकाम पर पहुंचता है डायना कहती है ''चंडीदास उस प्यार का देवता है जिस प्यार को पाने के लिए वह तरसती रही थी। चंडीदास के साथ उसका रिश्ता एक साथी का, एक प्रेमी का और अब एक हम सफर का है।...वह चंडीदास के संग एक विवाहिता की तरह पेश आती है। जबकि उसके साथ कोई दुनियावी रिश्ता नहीं है। फिर भी वह चंडीदास के साथ उसी रास्ते पर चलती है जिस पर एक वैवाहिक संबंध चलता है।'' (पृ. 127) चंडीदास की बहन मुनमुन और सत्यजित इसी 'लिव एंड रिलेशन' को जीवन भर निभाते हैं–''सत्यजित बिना किसी मानवीय रिश्ते के वैवाहिक बंधन के सब कुछ था मुनमुन का'' (पृ. 184)

संतोष श्रीवास्तव आधुनिक-बोध से लैस कथाकार हैं और यही आधुनिकताबोध डायना के उस संवाद में व्यक्त होती है जब वह टॉम सहित पूरे पुरुष समाज से सवाल करती है क्योंकि सवाल करना आधुनिकता का सबसे बड़ा लक्षण है। जब टॉम चंडीदास को गोली मार देता है तब डायना कहती है पति जो ''टूर के दौरान हर रात किसी मासूम औरत को अपनी हवस का शिकार बनाता है और बावजूद इसके यह सोचना कि पत्नी सिर्फ उसकी होकर रहे। अगर वह आंख उठाकर भी पराए मर्द को देखेगी तो आंखें फोड़ दी जाएंगी, शूट कर दिया जाएगा मर्द को।'' (पृ. 154) इससे आगे बढ़कर डायना आधुनिक स्त्री के रूप में उस समय और प्रखर रूप से सामने आती है जब वह चंडीदास की पुत्री को जन्म देने का निश्चय करती है–''डायना जबसे गर्भवती हुई है... एक विचित्र ईश्वरीय एहसास से गुजर रही है। उसके अंदर एक शरीर आकार पा रहा है।...वह उसे दोष-रहित प्रेममय संसार में लाना चाहती है।'' (पृ. 148)

देश विभाजन के साथ आजाद हुआ। कुछ लोगों के नापाक इरादों से हिंदुस्तान के गली-मुहल्ले भाई-भाई के खूनों से रंग गए। इस खूंखार खूनी संघर्ष के बीच प्रेम की मूर्ति डायना अपने और चंडी के प्रेम की निशानी रागिनी को छोड़कर चल बसती है। यहीं से दूसरी पीढ़ी की कथा प्रारंभ होती है जो काफी तेजी से आगे बढ़ती है। टॉम रागिनी को लेकर लंदन जाता है। जार्ज और टीना, जो रागिनी के अभिभावक हैं, के मना करने के बावजूद वह सैम से प्यार करती है। सैम उसे धोखा देता है वह सोचती है ''सैम बेवफा नहीं हो सकता...कि एक दिन झटके से भ्रम टूटा...सैम ने हॉलीवुड की खलनायिका से शादी कर ली...रागिनी विक्षिप्त-सी हो गई। टूटकर तिनका-तिनका बिखर गई'' (पृ. 194)

अपने मां के समान रागिनी भी हिंदुस्तान की मिट्टी की खुशबू से बेइंतहा प्यार करती है। उसकी मां उसे दोष रहित प्रेममय संसार में लाना चाहती थी। वही रागिनी प्रेम में धोखा खाकर चार वर्षीय शिशु रति को गोद लेती है और अपना सब कुछ उसे सौंपकर हिंदुस्तान प्रेम एवं शांति की तलाश में आ जाती है। और यहां श्रीकृष्ण के चरणों में अपने को समर्पित कर देती है।

डायना की मृत्यु के बाद उपन्यास दूसरी पीढ़ी में पहुंचते ही कमजोर हो जाता है। जब रागिनी इलाहाबाद और मथुरा जैसे धार्मिक संस्थानों के बीच गुजरती है तो उपन्यासकार एक प्रवचनकर्त्ता का रूप धारण कर लेती है। वे भारतीय संस्कृति का इस तरह आदर्शीकरण करती है कि उपन्यास प्रवचन की पुस्तिका-सा प्रतीत होने लगता है। जब कृष्ण भक्ति से विभोर और विह्वल रागिनी मथुरा में घूम रही होती है तो उसका हर संवाद इस उपन्यास को गीता आश्रम तथा इस्कान जैसी संस्थाओं का लोगो के रूप में पेश करता प्रतीत होता है। और यहीं यह उपन्यास कमजोर हो जाता है।

इस मनुष्य कथा के समानांतर उपन्यास में देश की आजादी के आंदोलनों की झलक भी है। जिन्ना के द्विराष्ट्रीयता के सिद्धांत तथा देश विभाजन का खौफनाक मंजर भी है। देश की जनता में आजादी की भूख तथा अपनी रूढ़ियों से मुक्ति की छटपटाहट में नवजागरण की भूमिका भी इस उपन्यास में दिखती है।

लेखिका गुनगुन तथा मुनमुन के माध्यम से हिंदुस्तान के आजादी के इतिहास की साबल्टर्न प्रस्तावना प्रस्तुत करती है। लगभग 63 वर्षों का विस्तार लिए यह उपन्यास लेखिका की भाषिक क्षमता के लिए याद किया जाएगा।

प्रेम कहानियां अमर तभी हो पाती हैं जब उनका कोई-न-कोई सामाजिक पक्ष होता है। इस उपन्यास में चंडीदास एवं डायना का प्रेम किसी देश या समुदाय की सीमा रेखा की चौहद्दी में बंधकर नहीं रह जाता। बल्कि सार्वभौम रूप धारण करता है।

उपन्यासकार चंडीदास के व्यक्तित्व को इस कदर उभारती है कि वह हिंदुस्तान के मार्मिक सांस्कृतिक इतिहास का साक्षी पुरुष बन जाता है। इसीलिए चंडीदास के लिए डायना राधा है, डायना के लिए चंडीदास कृष्ण।

टेम्स की सरगम/संतोष श्रीवास्तव/मानव प्रकाशन, 131, चिरतंजन ऐवेन्यू, कोलकाता-700073, ₹ 400

अस्टिंट प्रोफेसर/साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अ.हि.वि.वि., वर्धा (महाराष्ट्र) मो. 09272132803

उत्तर-आधुनिक समय में औपन्यासिक हस्तक्षेप

प्रेम शशांक

समय की क्रूरता के सन्दर्भ में उत्तर आधुनिकता मूल्यों के ह्रास का पर्याय हो गई है। राजनीतिक स्तर पर स्वार्थ की दृष्टि से अपना स्पेस बनाए रखना और सत्ता पर काबिज रहना योग्यता की निशानी है। इसका फल भी कम नहीं, हजारों करोड़ों के घोटाले का जैसे लाइसेंस मिल गया हो। नौकरशाहीसामंतों के मुंशियों में बदल रही है। संवेदना निजी स्तर पर ही नहीं, सार्वजनिक संदर्भों में भी भोंथरी हो रही है। काल की दृष्टि से समय और समाज खाओ, पिओ और ऐश करो के मुहावरे का समर्थक है। बस एक बार लक्ष्य पा जाओ फिर पौ-बारह ही समझो, डूब जाओ सफलता के आगोश में, दुनिया जाए भाड़ में। विचार लोकतंत्र के चौथे स्तंभ से भी विदा हो रहा है तो और कहां उम्मीद की जा सकती है। जीने की चुनौती और कसोटी कमोबेश सब जगह एक-सी है। समकालीन जीवन पद्धति के हाशिए पर खड़ा साहित्यकार विचार की अलख जगाए हुए हैं, कुछ इस अंदाज में कि उसकी आवाज जहां तक भी पहुंचे। इस दृष्टि से कथाकार का दायित्व निश्चित ही बढ़ जाता है, इसे उपन्यास की बची-खुची लोकप्रियता से जोड़कर भी देख सकते हैं। हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कथाकार राजेंद्र लहरिया अपने सद्यः प्रकाशित और समीक्ष्य उपन्यास के माध्यम से बकौल शमशेर काल से होड़ लेते नज़र आते हैं। इस उपन्यास में कथाकार को कई मोर्चों पर सजग देखा जा सकता है। मौजूदा समय में जब आत्मकथा के नाम पर मोटे-मोटे उपन्यास अथवा उपन्यास के नाम पर मोटी-मोटी आत्मकथाएं लिखने का प्रचलन हो तो वह महज चौरानवे पृष्ठीय उपन्यास में नियति से संघर्ष करते देखे जा सकते हैं। निश्चय ही शिल्प की चुनौती भी एक दृढ़ता के साथ स्वीकार करते हैं। दरअसल यह एक जरूरी प्रक्रिया है जिसे कथाकारों को समझना होगा कि पाठ को किस तरह समय का अपव्यय किए बिना सहज ढंग से संप्रेषित किया जा सकता है। दूसरे आजकल जिस तरह कथाकारों में खुद में ही डूबने, अतीत को खंगालने, संबंधों को हिरोइक बनाने अथवा अपने पेशे में ही सीमित रह जाने के रचनात्मक प्रयास किए जा रहे हैं और वह भी यह विचार किए बिना कि काल की कसौटी पर कुछ निशान बाकी रह भी जाएंगे या नहीं? इस दृष्टि से राजेंद्र लहरिया निश्चित ही आश्वस्त करते हैं।

कथानायक जगदीप प्रसाद वर्मा, जिन्हें प्यार से लोग 'जगदीप जी' कहते हैं, पचपन की उम्र में शहर के अपने मकान में क्योंकर

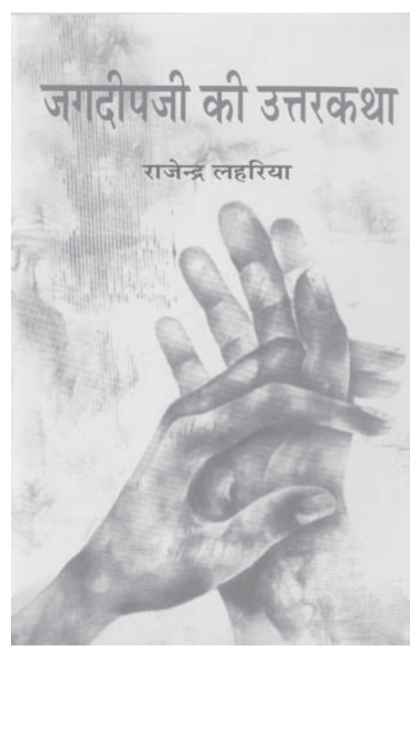

अकेले रह जाते हैं? यह ट्रैजेडी कथा का मूल है। इस ट्रैजेडी को सही ढंग से समझने के लिए 'उत्तर कथा का आदिपाठ' से गुजरना होता है अर्थात इसकी सही शुरूआत उनके बचपन से शुरू होती कही जा सकती है बल्कि यह कहा जाए कि इस ट्रैजेडी से पूर्व उनका बचपन जिन ट्रैजेडियों से शुरू हुआ उनका स्थानापन्न इस ट्रैजेडी में देखा जाए तो ज्यादा ठीक होगा। क्योंकि आजादी के तिरेसठ साल के बाद भी गांव, शहरों के अनुरूप विकास नहीं कर रहे है। बल्कि समय के अनुपात में विकास की जगह कई बार मुश्किलें बढ़ रही हैं। सरकारी योजनाएं और सुविधाएं भी एक छलावे से ज्यादा नहीं है। ग्रामीण यथार्थ की सही पकड़ के लिए देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ कहे जाने वाले किसान की मुश्किलें जिस तरह बढ़ रही हैं कि वे आत्महत्या करने को मजबूर हो रहे हैं। एक खबर 'उड़द ने उड़ाई नींद' का सामना करना समीचीन होगा।

'बुंदेलखंड के हजारों किसानों के साथ इस तरह का धोखा हुआ है। प्रमाणित उड़द के बीज द्वारा इस तरह धोखा दे जाने से ठगा महसूस कर रहे इन किसानों को समझ में नहीं आ रहा कि वे क्या करें। आजाद–1 व आजाद–2 नाम के इन बीजों को किसानों ने सहकारी समितियों, कृषि विभाग के बीज गोदामों और लाइसेंस धारक बीज विक्रेताओं से खरीदा था।

छः साल के सूखे के बाद इस साल मानसून की मेहरबानी से किसान बहुत खुश थे, खेतों में उड़द के ऊंचे-ऊंचे पौधे देखकर किसानों को लगा था कि फसल बढ़िया होगी, कर्ज निपटेगा ओर दीवाली धूमधाम से मनेगी। लेकिन उम्मीदें टूट गईं। खेतों में पौधे तो लहलहाए मगर उनमें फूल और फलियां नहीं आईं। नतीजतन दो फीट ऊंचे उड़द के पौधे बस खरपतवार बनकर रह गए हैं।'

(तहलका 15 अक्टूबर, 2010)

हमारे समय की कोई खबर, जो जीवन को छूती हुई निकल जाती हैं जो जीने-मरने की कसौटी बन गई हो, उसे साहित्य से किस तरह अलग किया जा सकता है? यह खबर इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि यह हमारे समय की राजनीतिक व्यवस्था, नौकरशाही और भ्रष्टता और उदासीनता से जुड़ी है। एक ऐसी ही घटना से राजेंद्र 'उत्तर कथा का मध्य पाठ' में दो-चार कराते हैं जिसमें वह पाठ के स्तर पर ही संवेदना नहीं जगाते बल्कि जो लोग इसे प्रत्यक्ष झेल रहे हैं, वह किस तरह और क्योंकर गांवों से शहर की ओर पलायन के लिए विवश हैं, यह समझने में मदद मिलती है। यहां जीवन ही संकट में नहीं है बल्कि अस्तित्व भी असुरक्षित है। जब विचार ही नहीं, संस्कार भी किसी काम के नहीं रहते।

बोली बढ़ रही थी...और फिर बोली टूट गई। गाड़ी के ऊपर खड़ा आढ़तिया गला फाड़ रहा था, ''इकतीस एक-इकतीस दो, इकतीस तीन! एक सौ इकतीस, एक-दो-तीन!'' व्यापारी आगे की गाड़ी की तरफ बढ़ गए थे। आढ़तिया गाड़ी से नीचे उतर आया था।

और गंगादीन को झमा-सा आया तो वह जहां खड़ा था वहीं ज़मीन पर बैठ गया। बाबूलाल ने देखा तो कहा, ''क्या बात है बापू?'' जवाब में गंगादीन बुदबुदाया था, ''नहीं जे नहीं हो सकैगो...जा भाव नहीं जाएंगे गेहूं, जा भाव ते कैसे पटैगे कर्ज!''

सुनकर बाबूलाल का भी दिल बैठा जा रहा था। उसके सामने ही तो कहा था विशंभर सिंह सरपंच ने, ''बेटा खेती करना चाहता है तो बेटे से लिखा दे टीप, तभी मिलेगा बैलों के लिए कर्ज! लिखा दे बेटे से कि कर्ज अदा नहीं हुआ तो अपने शरीर से अदा करेगा।''

विशंभर सिंह ने कहा था, ''बीज के लिए गेहूं लोगे तो सवा दो सौ रुपया क्विंटल है बीज...और बीज पर सवाई लगेगी।''

''देंगे सवाई।'' गंगादीन ने कहा था, ''खेती करी है तौ बीज तौ ऐरनों ही परैगौ।''

बीज लिया था सवा दो सौ रुपये क्विंटल। सवाई पर। सवाई, यानी सौ के सवा सौ।

''पर बेचने की बारी आई तो एक सौ इकतीस रूपैया क्विंटल। क्यों आखिर क्यों? उतनी मेहनत की इतनी कीमत। कैसा अंधेर है जे! जब अमीर गरीब को बेचता है तो मुंह मांगे दाम लेता है, जब अमीर गरीब से खरीदता है मानचाहे दाम देता है। कैसी अंधेरगर्दी है जे!'' गंगादीन कह रहा था।

गंगादीन ने बाबूलाल के मुंह की ओर देखा था—एक आत्मीयता से भरी बेचैन निगाह से। और अचानक एक चीख-सी निकली मुंह से, ''नहींऽऽऽ ईंऽऽऽ!'' इतनी जोर से कि पूरा मुंह फट गया। दांत एक खास मुद्रा में दिखाई दिए। चेहरा बिगड़ गया। शरीर थर-थर कांपते हुए ऐंठ गया और लकड़ी की तरह जड़ होकर पसर गया। यह देखकर बाबूलाल चिल्लाया था, ''बापू!'' और बाप को उठाने के लिए लपका था, लेकिन बाप की तब तक सांसे थम चुकी थीं।

यह घटना भले ही जगदीप जी की कॉपी से उभर रही हो लेकिन यह उनके सामने का हादसा था। किसान-जीवन की मुश्किलें या बेटे दिवाकर का मेधावी होना अथवा दोनों ही कारणों से वह शहर को पलायन करने को मजबूर हुए वरना कोई यों ही अपना जड़ों से कटने को तैयार नहीं होता और यहीं से उत्तर कथा का मूल पाठ शुरू होता है। दरअसल राजेंद्र लहरिया समूचे यथार्थ के फेर में नहीं पड़ते। हमारे समय की उन यथार्थ छवियों को पकड़ते हैं, जो समय के साथ अपने निशान जरूर छोड़ जाएंगी। शहरी-जीवन की चुनौतियां अलग किस्म की हैं तो महानगर के क्या ही कहने? मेधावी होने के कारण दिवाकर एम.बी.बी.एस. की पढ़ाई के लिए दिल्ली चुनता है क्योंकि प्रतियोगिता में उसे दिल्ली का सबसे अच्छा संस्थान मिला है। यहां एक बदलाव नज़र आता है कि जगदीप जी अपनी क्षमता भर प्रयासों से दिवाकर को डाक्टर बना ही देते है। लेकिन वह उसे गांव की जिस आग से बचाकर उसके भविष्य की खातिर शहर में बसे थे, बदली परिस्थितियों में अब वही कम पड़ रहा था। यह दो पीढ़ियों के विचारों और जीवन-पद्धति की चुनौतियों का फर्क था कि सब कुछ ठीक-ठाक चलते हुए उन्हें दिवाकर की बदली सोच का पता उसके पत्र से चलता है। और अंततः वह दिवाकर को जवाब में पत्र लिखने को विवश होते हैं जिसमें दिवाकर के पत्र में व्यक्त विचारों की झलक मिलती भी है।

प्रिय दिवाकर

तुम्हारा पत्र मिला। पढ़ लिया। कुछ अच्छा लगा, कुछ अच्छा नहीं लगा। हमारी जो आर्थिक स्थिति है उसके हिसाब से मैं

तुम्हारे ले लिए जो कुछ कर सकता था वह मैंने किया है। फिर भी कुछ कमियां तो रही हैं। तुमने लिखा है कि 'कौन देखता है योग्यताओं को, क्षमताओं को, यदि आपके चेहरे पर चमक नहीं है, यदि आपके इर्द-गिर्द पैसे का चमत्कार बिखरा हुआ नहीं दिखता है।' सही लिखा है तुमने। पर उसमें इतना जोड़ लो कि इन्सान के बड़े होने या छोटे होने को नापने का कोई पैमाना नहीं हो सकता।...बहुत संभव है कि किसी 'बड़े' कहे जाने वाले व्यक्ति के भीतर एक बहुत छोटा आदमी बैठा हो; और 'छोटे' कहे जाने वाले व्यक्ति के भीतर बहुत बड़ा आदमी। तब पैसे के चमत्कार के कोई मायने नहीं रह जाते।...चेहरे पर कितनी भी चमक लाता हो पैसा, पर वह मनुष्य से बड़ा कभी नहीं हो सकता।...'

कथात्मक घटनाक्रम के बदलावों के साथ यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि दिवाकर पर जगदीपजी के संस्कारों और विचारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह जिस परिवार को इकट्ठा साथ रहने का ख्वाब देखते हैं, वह सारे प्रयासों के बावजूद धरा का धरा रह जाता है। क्या स्वप्न टूटने के लिए ही होते हैं? दिवाकर दिल्ली में सैटिल होना चाहता था लेकिन वह जिद करके उसे शहर के स्थानीय मेडिकल कॉलेज में प्रवक्ता के लिए एप्लाई करने को विवश कर देते हैं, वह उनके कहे अनुसार बेमन से कार्यवाही सम्पन्न करता तो है, चयन के बाद दिल्ली से लौट भी आता है लेकिन पैतृक घर में रहना स्वीकार नहीं कर पाता। बल्कि सोने में सुहागा यह कि मां और भाई को लेकर अन्य बेहतर आवास में शिफ्ट हो जाता है। उसके शिफ्ट होने की प्रक्रिया भी कम त्रासदीय नहीं है। वह चाहते हैं कि सब साथ मिलकर रहें और वह खुद ही अकेले रह जाते हैं। घटनाक्रम के हिसाब से ऐसे कारण नदारद हैं जो उनके अकेले होते जाने को तर्क सम्मत सिद्ध कर सकें। नियति के खाते से ही इस घटनाक्रम के तर्क हो समझा जा सकता है। यह इस कृति की कमजोरी कही जा सकती है। क्योंकि 'कांटे बोए बबूल के आम कहां से पाए' जैसा मुहावरा भी जगदीपजी पर कहीं से भी फिट नहीं बैठता है। हां, दिल्ली में सैटल न होने देने के लिए वह जरूर जिम्मेदार कहे जा सकते हैं, इसके लिए उनके अपने मोहासिक्त दबाव है जिनके कारण उन्हें ऐसा कठोर निर्णय लेना पड़ता है। लेकिन एक ही शहर में उन्हें अकेला करके मां और भाई के साथ दिवाकर का अलग रहने का निर्णय क्या उनके मोह से प्रतिकार या प्रतिरोध से जोड़कर देखा जाना चाहिए? ऐसी स्थिति में संभावनाएं ही व्यक्त की जा सकती हैं। क्योंकि जिस नाटकीय दृढ़ता के साथ दिवाकर यह निर्णय अमल में लाता है, जगदीपजी के नज़रिए से बेहद असहनीय और अपमानजनक ही नहीं, त्रासद है और जिस सहजता से मां और भाई को वह साथ ले जाता है और जिस सहजता से वे इसके लिए तैयार हो जाते हैं, वह अंतर्द्वद्व कथा से गायब हैं। लगता है कि शिल्प की तकनीक में ये प्रश्न अनुत्तरित रह गए हैं। यह अलग बात है कि शिल्प का नयापन आकर्षित करता है, इसके बावजूद ये प्रश्न हंट करते हैं। लेकिन ये प्रश्न उन प्रश्नों के साथ गड-मड हो जाते हैं जो 'उत्तर आधुनिक' संग्रह पढ़ते हुए कहानियों में उठते हैं और यह संग्रह कोई और नहीं जगदीपजी पढ़ रहे हैं। वह सिर्फ तीन कहानियां ही पढ़ पाते हैं, तीनों कहानियों की यथार्थ छवियां बेहद आक्रामक और दयनीय हैं और उनका जिक्र बेहद जरूरी लगता है।

''और अगले दिन के स्थानीय अखबार में खबर पहले पेज से लेकर तीसरे और चौथे पेज तक पसरी हुई थी। अग्निकांड में 16 स्कूली बच्चों की मौत। शीर्षक से छपी खबर के साथ घटनास्थल और मृत बच्चों के फोटोग्राफ और साथ में विद्यालय के संचालन से जुड़ी संस्था जन आकांक्षा के पदाधिकारियों के द्वारा घटना की न्यायिक जांच की मांग और अग्निकांड के पीछे किसी गहरी साजिश के होने की आशंका व्यक्त किए जाने संबंधी वक्तव्य प्रकाशित थे। मुकुंद माट्साब उनसे कह रहे थे, 'शरण बाबू, सुनने में आ रहा है कि वह स्कूल जल्दी ही बंद हो जाएगा। 'सुनते हैं कुछ लोग इस जगह पर मल्टी स्टोरी बनाना चाहते हैं...शॉपिंग काम्पलेक्स.. इस जगह को करोड़ों-अरबों के कारोबार में बदलना चाहते हैं वे!''

(नरभक्षी)

''और सवेरे के अख़बार में ख़बर की तफ़सील थी कि 18-20 साल की उम्र के चार लड़कों ने ऐशोआराम की ज़िंदगी जीने की इच्छा पूरी करने के लिए, फिरौती के लिए, पिछले हफ्ते शहर की एक मध्यवर्गीय कॉलोनी से गोपाल नारायण वर्मा के पांच वर्षीय बेटे का अपहरण कर लिया था। पर नौसिखिये अपहरणकर्ताओं ने फिरौती की योजना को अंजाम दे पाने में नाकामयाब रहने पर अपहृत बच्चे की इस कारण हत्या कर दी कि उसके जीवित घर पहुंचने पर पहचान वाले अपहरणकर्ता रमेश का भंडाफोड़ हो जाएगा और उसके बाद सबके सब पकड़े जाएंगे।...पुलिस ने मृत बच्चे का शव बरामद कर लिया है।''(गिरफ्त)

''मेरे लिए दो चोली ले आना...एक फेयर लवली किरीम और एक पौंड पावडर का डिब्बा....केयरफिरी हूं खतम हो गई है... और एक साबुन ले आना लिरिल...'' घरवाली ने उससे कहा।

उसके मुंह से निकला, ''का मेरे पास रूपइयन की खदान खुदी है सो फेयर लवली किरीम, पावडर का डिब्बा और जे–वो पूरा बाजार खरीद लाऊं।...नहीं हैं मेरे पास इतने पइसा...''

''काये नहीं हैं पइसा?'' घरवाली ने एकदम चीखते हुए कहा।

थोड़ी देर में एक किलो आलू और सौ ग्राम अंगूर लिए लौटे रूपलाल ने आदतन दरवाजे के पहले पहुंचते ही आवाज़ लगाई, ''सन्नीऽऽऽ!'' आवाज़ सुनकर उसका बेटा भीतर से दौड़ता हुआ बाहर आया और उसके हाथ से अंगूर की थैली लेने से पहले ही लड़खड़ाते हुए ज़मीन पर गिर पड़ा।

उसे लगा, उसका बेटा बेहोश हो गया है। वह ज़ोर से चीखा, ''अरे देखो सन्नी को क्या हो गया। ये सन्नी को क्या हो गया।'' पर इतनी चीख पुकार के बाद भी कुठरिया के भीतर से न घरवाली निकली, न ही उसकी बेटियां। कुठरिया के भीतर झांका और वहां का नजारा देखकर दंग रह गया–वहां रूपलाल की घरवाली और उसकी दोनों बेटियां जमीन पर अस्त-व्यस्त गिरी पड़ी थीं। उसकी दोनों बेटियां भी बेटे की तरह ठंडी हो चुकी थीं और आखिरी सांसे लेती घरवाली के मुंह से झाग निकल रहे थे।...

(कहानी रूपलाल की)

उपर्युक्त तीनों ही कहानियों की थीम और उनकी यथार्थ छवियां उत्तर आधुनिक समय और समाज की प्रतिध्वनियां कही जा सकती हैं। व्यक्ति के सीमित संसाधनों के बरअक्स बाजार का पूरा साम्राज्य फैला हुआ है। इससे बचाव बेहद मुश्किल है। इसका सामना या तो लाशों के ढेर पर हो सकता है, जैसा पहली कहानी में दिखता है या गलत रास्तों के चयन के कारण जेल का जोखिम उठाना पड़ सकता है या फिर रूपलाल की पत्नी की तरह आत्मघात का रास्ता बाकी रहता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यह पूंजी का वैश्विक कुचक्र है जो बाज़ार के रूप में हमें लुभाता है। यह मानवीय संबंधों को ही नहीं सोख रहा है बल्कि पारिवारिक संबंधों को भी नुकसान पहुंचा रहा है। रूपलाल की पत्नी और दिवाकर एक ही बाजार की चकाचौंध की शिकार है, जहां पारिवारिक संबंध भी पथभ्रष्ट होने से नहीं रूक पा रहे हैं। और सिर्फ दिवाकर ही नहीं, कहीं-न-कहीं जगदीप जी की पत्नी भी इसकी शिकार हैं। वरना उन्हें छोड़कर बेटे के साथ जाने का इतना बड़ा निर्णय अकेले ही नहीं कर लेतीं। जगदीप जी विचारवान व्यक्ति हैं इसलिए माने की ऊंच-नीच को खूब समझते हैं। लेकिन उनकी यह खूबी ही उनके विरुद्ध जा रही है, वह अकेले होते जा रहे हैं। क्या विचार की दृष्टि से यह एक अच्छा लक्षण है? उपन्यास के अंत के साथ यह प्रश्न परेशान करने लगता है। यह बेचैनी ही कथाकार का लक्ष्य है। जिस तरह से विचार की समस्त संस्थाएं लकवाग्रस्त होती जा रही हैं, वहां विचारवान आदमी अकेला और निहत्था ही हो सकता है। दरअसल यह अकेले जगदीप की ही उत्तर कथा नहीं है बल्कि हर विचारवान व्यक्ति की उत्तरकथा की यथार्थ छवियां हैं जिनसे देर-सबेर उसे दो-चार होना ही है।

जगदीपजी की उत्तरकथा/ राजेंद्र लहरिया/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली/ ₹ 140

किसान सहकारी चीनी मिल्स लि., सेमीखेड़ा, बरेली (उ.प्र.) 243203, मो. 09259774177/ 09286598577

उ प न्या स

हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता

अर्पण कुमार

'हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता', कवि-कथाकार महाराज कृष्ण संतोषी का लघु उपन्यास अपने आकार में बेशक छोटा है लेकिन इसका कथ्य न केवल बेहद मानवीय है, संवेदनशील भी। यह कश्मीर-घाटी से हिंदुओं के विस्थापन को कई राजनीतिक/ सांस्कृतिक /सामाजिक/ ऐतिहासिक संदर्भों में जाकर देखता है और हां, यह देखना एकपक्षीय और इकहरा नहीं है और इसमें वर्षों से चले आ रहे उनके निर्वासन के दर्द को विभिन्न लोक-कथाओं, राजनीतिक दुरभिसंधियों, हिंदू-मुस्लिम संबंधों की पारस्परिकता एवं जटिलता के बीच दिखाने की कोशिश है। विस्थापन की पीड़ा के प्रत्यक्ष भागीदार होने एवं उपन्यास को उत्तम पुरुष में लिखने के बावजूद लेखक ने चीजों को रखने में एक सन्तुलित दृष्टि को अपनाने की कोशिश की है। यदि एक तरफ इस उपन्यासिका में लेखक-भोक्ता के बीच अभेद्यता होने के कारण कथ्य के साथ ट्रीटमेंट में प्रामाणिकता का समुचित निर्वहन हो सका है तो दूसरी तरफ हिंदू-मुस्लिम संबंधों के बदलते आयामों को भी कुछ निजी गवाक्षों से देखा गया है। हालांकि, कश्मीर-समस्या को लेकर राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर देशी-विदेशी भाषाओं में बहुत कुछ लिखा गया है, एकाधिक संचार-कला माध्यमों से कश्मीरी पंडितों के विस्थापित जीवन की हृदयस्पर्शी प्रस्तुति भी की गई है। हिंदी में चंद्रकांता का लिखा उपन्यास 'कथा सतीसर' भी काफी लोकप्रिय हुआ। 1930 से लेकर वर्ष 2000 तक के सत्तर साल के कश्मीर के इतिहास को 'कथा सतीसर' में विभिन्न कथा-पात्रों के साथ जोड़कर रखा/ दिखाया गया है। निस्संदेह कश्मीरी समस्या का यह अपने तईं हिंदी में एक अनूठा साहित्यिक प्रलेखन है, मगर इस उपन्यास में अवधि का फलक और समावेशित विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत है कि वहां कश्मीर से होते निर्वासन पर एक विहंगम दृष्टि की डाली गई है। कदाचित इससे अधिक की वहां गुंजाइश भी नहीं थी।

प्रस्तुत उपन्यासिका के कथा-केंद्र में कश्मीर-घाटी से कश्मीरी हिंदुओं का निष्कासन ही है, बेशक इसके इर्द-गिर्द ऐसे कई संबंधित प्रसंग हैं जो ऐसी स्थितियों के उत्पन्न होने की पड़ताल करते हैं और कश्मीर क्रमशः वास्तविकता से मिथ में किस तरह तब्दील होता गया—इसका संकेत भी देते चलते हैं। मज़े की बात यह है कि कश्मीर को लेकर बना यह मिथ न सिर्फ देश-विदेश में बल्कि स्वयं कश्मीर में भी प्रचलित है। बेशक भारत-पाक विभाजन के बाद कश्मीर एक राजनीतिक समस्या के रूप में ज़्यादा मुखर होता दिखा मगर वहां हिंदुओं के बलात् धर्मांतरण

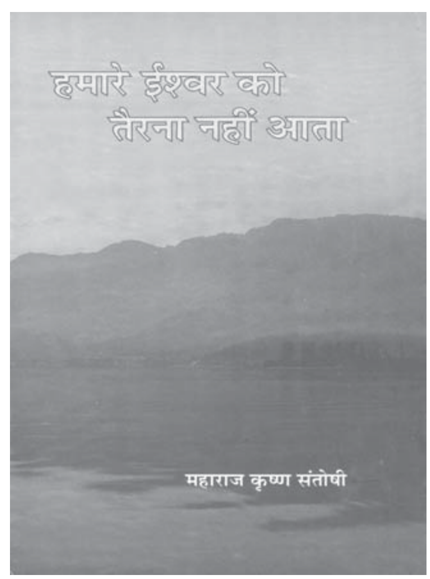

और उनकी सांस्कृतिक अस्मिता पर हमले की डोर सदियों पुराने अतीत के जख्मों से जुड़ी है। ठीक उतनी ही पुरानी, जितनी पुरानी उनकी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान है, जो कश्मीर पर इस्लाम और बौद्ध शासन/प्रभाव के आरंभ से भी सदियों पुरानी है। निस्संदेह कश्मीरी पंडित, घाटी में शुरू से ही अल्पसंख्यक रहे हैं और कमजोर भी। अपने ऊपर होते अत्याचारों के खिलाफ न उन्होंने प्रतिक्रिया की और न ही किसी विद्रोह का कोई बिगुल बजाए गए। इसे वहां सामान्यतः हिंदू-मुस्लिम दंगों के न होने की अन्यथा शांत परिस्थिति के ऐतिहासिक साक्ष्य से जोड़कर भी देखा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि उपन्यास का शीर्षक 'हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता' में भी प्रकटतः नोक-झोंक के पीछे कश्मीरी पंडितों की संवेदनशीलता (कायरता?) को ही संकेतित किया गया है। आख्यानों में जाकर धार्मिक आधार को चुनौती देता हुआ, किसी के आध्यात्मिक आलंबन को ही ध्वस्त करने का एक प्रयास। कथानायक जब अपना गांव छोड़ने का निर्णय लेता है तो उसका दोस्त माजिद उससे गांव न छोड़ने का आग्रह करता है, लेकिन उसके निश्चय की अटलता को देखकर वह चुटकी लेता है, ''तुम साले कश्मीरी पंडित सब कायर और डरपोक हो।''

''हां, हम सब कायर हैं...हमारा ईश्वर भी डरपोक है...।'' मेरे स्वर में एक विचित्र आक्रोश था...नहीं...अवसाद था...बिलकुल सच। तुम्हारे ईश्वर को तैरना तक नहीं आता है।'' स्पष्टतः माजिद जैसे चरित्र को लेखक ने यथोचित संवेदनशीलता के साथ गढ़ा है मगर दो दोस्तों के बीच की गर्माहट में कैसे दोनों का अपना वैचारिक पैनापन या कहें पूर्वाग्रह अपनी जगह बनाता है और कैसे घाटी की निरंतर बदलती स्थितियों के बीच उनकी दोस्ती अलग-अलग मुकामों पर खड़ी नज़र आती है, इसका क्रमशः चित्रण इस उपन्यास में सफलतापूर्वक संभव हो सका है। इन दो मित्रों के परस्पर संवादों में ही कश्मीर के बदलते इतिहास की झांकी भी मिलती है, फिर चाहे मूर्तिभंजक आततायी कश्मीरी मुस्लिम शासक सुल्तान सिकंदर बुतशिकन (1389-1413) का जिक्र हो या फिर उसके बरक्स कथित उदारवादी मुस्लिम शासक जैनुलाब्दीन का। किसी कथा में कैसे स्वप्न, मिथक, परंपरा, लोककथा आदि के साथ इतिहास, दर्शन, स्वप्न, अध्यात्म को जोड़कर उसे परस्पर गुंफित करते हुए किस तरह अपनी वर्णनात्मकता को कोरे रिपोर्ताज से अलग करके उसमें कथात्मकता को प्रभावी घटक उत्पन्न किए जा सकते है, इस कृति में संतोष ने यही कहने का प्रयास किया है।

अध्याय 'बिच्छू-घास' में कश्मीर से दूर जम्मू में कथानायक अपनी बहन के देखे गए सपने का जिक्र करता है और उसके बहाने कश्मीर की अशांत, उदास और मनहूस आबोहवा को ही दिखलाता है, ''मैंने देखा, हमारे बगीचों से सभी पेड़ गायब हो गए हैं और हरियाली की जगह बिच्छू-घास उग आई है। मैं माली को आवाज देती हूं—गुला, यह तुमने क्या किया?...मैं पुकारती रही, पुकारती रही और थक कर अचेत हो गई। चेत हुई तो एक गुस्सैल चील मेरी हथेली नोंच रही थी। मैं एकदम भागने लगी।...''

जाहिर है, ऐसे दुःस्वप्न हर विस्थापित परिवार देखता है। यहीं पर, दो पंक्तियों में कथानायक की मां द्वारा स्टोव पर पीले चावल बनाने का प्रसंग आता है, किसी बला को दूर भगाने के लिए, हमेशा की तरह और अध्याय समाप्त हो जाता है। इस तरह के सांकेतिक पटाक्षेप में, कहने की जरूरत नहीं कि लेखक क्षेत्र-विशेष पर छाए घटाटोप के गुरुत्व और उसकी सघनता को ही दिखलाने की कोशिश करता है। परिवार की ऐसी रूढ़ियों में इलाके का अनवाद भी रूपायित होता है।

छोटे-छोटे कुल 13 अध्यायों में बंटा यह उपन्यास अपनी सीधी-सरल भाषा में विभिन्न कथा-उपकरणों के माध्यम से कश्मीर घाटी से कश्मीरी पंडितों के पलायन को नई-पुरानी पीढ़ी के अपने-अपने विशिष्ट अनुभवों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। एक तरफ जम्मू, दिल्ली आदि मैदानी शहरों की तेज गर्मी और दूसरे किराए के घरों/टेंटों में विस्थापित जीवन जीने की दयनीयता—इसे कश्मीर में सेब के बागों, अच्छे-बड़े घरों के उनके मालिकाने और वादी की प्राकृतिक सुरम्यता के बरक्स रखकर—कश्मीरी पंडितों के समकालीन संत्रास को यथोचित गहराई और करुणा में प्रस्तुत किया गया है।

'आएंगे हम लौटकर ऐ वतन' अध्याय में एक ऐसी ही स्थिति का उल्लेख है,

''विस्थापन का तीसरा वर्ष भी बीत रहा है और अभी परिस्थितियों में कोई विशेष बदलाव नहीं आया है, सोचता हूं, पता नहीं चिनार और बर्फ के बीच कब लौटना संभव हो? फिलहाल तो स्थिति यह है कि तन पर ही नहीं मन पर भी धूप के कोड़े सह रहे हैं।''

उपन्यास का एक अध्याय 'आएँगे हम लौटकर ऐ वतन' क्षमा कौल की इसी कविता से ली गई एक पंक्ति है। एक तरफ निरन्तर अस्थिर कश्मीर की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति और दूसरी तरफ कश्मीरी पण्डितों की सांस्कृतिक पहचान पर गहराता संकट—इन दो सिरों से बीच आत्मकथात्मकता से कुछ तत्त्वों से युक्त इस उपन्यासिका में लेखक ने उपर्युक्त समस्याओं को हिंदू-मुस्लिम सह-अस्तित्व की सुदीर्घ परंपरा में जाकर भी टटोला है। फिर चाहे कथानायक हिंदू और उसके मुस्लिम दोस्त माजिद के बीच की दोस्ती और उनकी बहस के ऊष्ण छींटे हों या फिर क्रमशः माजिद के आतंकवादी बनने और कथानायक के अपने गांव छोड़ देने के बीच लाख कड़वाहट के बावजूद गर्माहट की कोई राख कहीं-कहीं गर्म दिखती है। इसी क्रम में लेखक इस्लाम की सूफी परंपरा का भी जिक्र करता है जो इस्लाम की ओर अपने झुकाव के बावजूद जितना ही सही, अपने तईं इस्लमी कट्टरपंथता को कुछ कम करता है।

हमारे ईश्वर को तैरना नहीं आता/महाराज कृष्ण संतोष/यूनिस्टार बुक्स प्राइवेट लि. भारत एस.सी. ओ. 26-27 सेक्टर 34ए, चंडीगढ़-160022/ ₹ 150

द्वितीय तल, डी-287, नेहरू विहार (तिमारपुर के समीप), दिल्ली-110054, मो. 9891761030

कहानियों में हाशिए पर के लोग

प्रेमशीला शुक्ल

सुभाष शर्मा के कहानी संकलन 'भूख तथा अन्य कहानियां' में बीस कहानियां संकलित हैं। संकलन समाज में हाशिए पर गए लोगों को समर्पित है। अंदर के पृष्ठों में कहानियां इन लोगों के हाशिए पर जाने के कारणों एवं परिणामों की छानबीन सूक्ष्मता से करती हैं। भारतीय समाज की संरचना अत्यंत संश्लिष्ट है। इसे रचना की विषय वस्तु बनाने वाले को बड़ी सजगता और धैर्य से इसके भीतर प्रवेश करना पड़ता है। 'भूख तथा अन्य कहानियां' की कहानियों को पढ़कर संतोष होता है कि लेखक ने चलताऊ तथा खबरी ढंग से हाशिए पर गए लोगों को निबटाया नहीं है। व्यक्ति एवं व्यक्ति तथा व्यक्ति एवं समाज के अन्तः संबंधों के सूत्रों पर कहानीकार की पकड़ बराबर बनी हुई है एवं कहानियां जल्दबाजी में अपने निर्णय प्रस्तुत नहीं करतीं। यह इन कहानियों की बड़ी उपलब्धि है।

संकलन की कहानियों के दो वर्ग आसानी से हो सकते हैं (इसे कहानियों की एक सीमा माना जा सकता है)—स्वतंत्र भारत में क्रमशः बढ़ते भ्रष्टाचार और मूल्यों के ह्रास से जुड़ी कहानियां और सदियों से फैली कुरीतियों में पिसती जनता की विवशता से जुड़ी कहानियां। दोनों वर्गों की कहानियों में गरीबी, बेरोजगारी, प्राकृतिक प्रकोप, दंगा-फसाद आदि यथास्थान उपस्थित होते रहते हैं। भ्रष्टाचार के अनेक क्षेत्र हैं और कुरीतियां भी इतनी कि दसों उंगलियों पर गिनी न जा सकें। 'भूख तथा अन्य कहानियां' इनमें से कुछ के बीच घूमती हुई भारतीय समाज की सड़न और क्षरण को प्रस्तुत करती है। 'भूख', 'अंतराल', 'ढीहे पर आदमी, 'अभयदान', 'चलो कहीं और चलें', 'धोखा', 'अपने लोग', 'चौथा खंभा', 'ध्वंस', 'पुजारी काका', 'खोज', 'दंश', 'लाक्षागृह', पहले वर्ग के अंतर्गत एवं 'खारिज', 'संगसार', उभरती लकीरें, 'छाया', 'चक्रव्यूह' एवं 'कुदेशन', दूसरे वर्ग के अंर्गत रखी जा सकती हैं। दोनों वर्गों से कुछ कहानियों को लेकर अन्य कहानियों की विशेषता सहजतः अनुभेय है।

पहली कहानी 'भूख' खेतिहर मजदूर के पापी पेट के सवाल को उठाती है, जवाब भूख ही देती है—सदैव के लिए शांत होकर। भारत में खेती प्रकृति पर निर्भर है। कहानी यहीं से शुरू होती है। सूखे की तीसरी सालगिरह मनाने वाले जीवनपुर गांव के मांझीटोले का सबसे बुजुर्ग आदमी जयकरन अपनी विधवा बहू और उसके तीन बच्चों का पेट खेतों में मजदूरी करके पालता है। सूखे के कारण अनाज उपजा नहीं तो काम कहां से मिले? बिना काम मजूरी कैसे मिले? इसके पहले वाले साल लाल झंडा पार्टी के असर में आकर नौजवानों ने 'काम रोको अभियान' चला दिया। इससे भी जयकरन जैसे लोगों को नुकसान हुआ। पार्टी ने अपनी तरह से आवाज उठाई पर उससे कोई लाभ नहीं मिला। इस साल

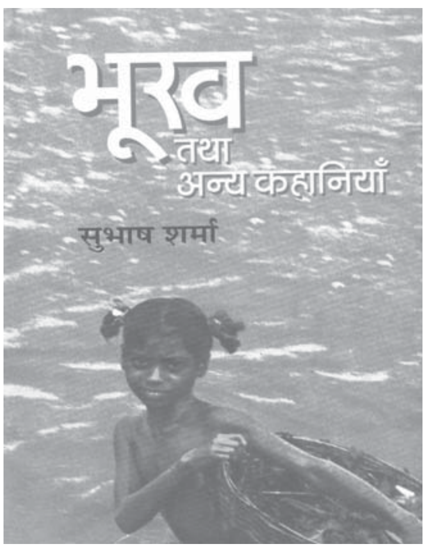

जयकरन ने पेट पालने के लिए सूअर पाला, मेमना पाला, बकरी पाला। इनको बेचकर पैसे जुटाए और अनाज खरीदा। उसने सालभर में ड्योढ़ा चुकाने की शर्त पर महाजनी करने वाले बाभन के यहां से मकई उधार लिया। हर उपाय थोड़े दिन कारगर होती है पर पेट को तो सब दिन चाहिए। फिर, पेट आदमी ही नहीं जानवर के पास भी है। चारे की कमी से जयकरन का मेमना मर गया। जयकरन ने मेमने की अंतिम क्रिया की, उसे मिट्टी में गाड़ दिया।

रोजगार के पारंपरिक स्रोतों को आजमाने के बाद जयकरन नए स्रोतों की ओर चलता है। ब्लॉक पर जाकर उसने बी.डी.ओ. साहब और ग्राम सेवक से काम देने की याचना की। बी.डी.ओ. को लगा—बूढ़े से काम कराना मतलब मजूरी व्यर्थ जाना। उन्होंने अन्नपूर्णा योजना के अंतर्गत लाल राशन कार्ड बनवाने का आश्वासन दिया। ग्राम सेवक और कोटेदार चम्मन साव की कपटी कृपा से उसे थोड़ा चावल मिला लेकिन रोज लगने वाली भूख को रोज अन्न चाहिए। थोड़ा चावल कितने दिन चलता? भूख की मार से तिलमिलाए जयकरन के पोते ने गड्ढे से मरे मेमने को निकाला। मेमने का मांस पकाया गया। मरे मेमने के सड़े मांस को खाकर घर के लोग मर गए, भूख पूरी तरह शांत हो गई।

भूख से पांच मौतें—बड़ी खबर है। कहानीकार ने बड़ी खबर को खबरिया तंत्र के हाथों परोसा है। अब सरकारी तंत्र, चिकित्सा तंत्र सभी सक्रिय होते हैं और मिलकर सच्चाई की खोज करते हैं—"मौतें खाने में जहर और इन्फेक्शन से हुईं—इस सच की वास्तविक सच्चाई गांव का बूढ़ा पीपल जानता है। इस तरह सच्चाई के कई रूप हैं। सरकारी सच्चाई के साए में पलने वाली भारतीय समाज की अन्य अनेक भयावह सच्चाइयों का सामना

'भूख तथा अन्य कहानियां' साहस के साथ करती हैं और उसे सबके सामने रखने के लिए भारतीय समाज की अनेक तहों को खोलती हैं। कहानियां सरकारी तर्क के झूठ को उजागर करती हैं कि अनाज से भरे गोदाम सबके सुखचैन के साक्षी हैं। आम आदमी के लिए जन सशक्तिकरण योजना मात्र कागजी है, उसके लिए जितनी तकलीफदेह महाजनी व्यवस्था थी, उससे कम आज की तथाकथित लोकतांत्रिक व्यवस्था भी नहीं। शासन के राशन के आगे भूख कैसे टिक सकेगी? प्रशासन आम नागरिकों के कल्याण के लिए कटिबद्ध है।'' ऐसी सरकारी घोषणाएं राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के खोखलेपन को बताती है।

'अंतराल' नई जीवन शैली से जुड़ी कहानी है। सेल्स टैक्स डिपार्टमेंट के डिप्टी कमिश्नर रस्तोगी साहब के लड़के के अपहरण के माध्यम से अपराध और अपराध नियंत्रण के पारस्परिक संबंध के विस्मयकारी एवं रहस्यपूर्ण संसार की बातें सामने लाई गई हैं। सेल्स टेक्स डिपार्टमेंट काफी मालदार डिपार्टमेंट है। डिप्टी कमिश्नर को अनेक फर्मों से खूब-खूब पैसा मिलता है। अपने पैसों को जायज करार देने का शानदार तर्क उसके पास है—पैसे उन्होंने किसी का दिल दुखाकर नहीं कमाया है, किसी ने उपहार में जो दिया, वही लिया। वे सारे रुपये भी बच्चों की पढ़ाई और घर बनवाने जैसे सद्कार्यों में खर्च किए। अब जब अपहरणकर्ताओं ने उनसे रुपये फिरौती में मांगे तो कमिश्नर साहब के पास पैसे थे ही नहीं। पचास लाख के जुगाड़ के लिए उन्होंने सभी फर्मों के चक्कर काटे पर परिश्रम व्यर्थ गया। थके-हारे कमिश्नर साहब मुख्यमन्त्री जी के पास गुहार लेकर पहुंचते हैं। यहां कहानी में चमत्कार घटित होता है। पहले अफसरों को उनके कर्तव्यों की याद दिलाई जाती है—''सेल्स टैक्स के डिप्टी कमिश्नर होकर आप कभी मुझसे मिलने नहीं आए और मीडिया में आँय-बाँय-साँय बयान देने लगे। सरकारी सेवा की शर्तों का आपको कुछ ख्याल है या नहीं?...आपको डी.जी.पी. बना दिया अपहरण कराने के लिए?...एक बच्चे को बरामद नहीं कर सके तो फिर वर्दी पहनने का क्या मतलब?'' फिर स्वयं मुख्यमंत्री द्वारा कर्तव्यपालन का आदर्श उपस्थित किया जाता है—''जो आप नहीं कर सके उसे अब मैं करके दिखाता हूं।'' और एक सुबह मुख्यमंत्री आवास से दो सौ मीटर की दूरी पर किशन मिल जाता है। चमत्कार के रहस्य पर से पर्दा मुख्यमंत्री महोदय का पी.ए. उठाता है—''इस बार साहब ने किसी तरह छुड़ाया है।...जल्दी से बीस लाख रुपये का इंतजाम कर दीजिए वरना उस गिरोह को तो आप लोग जानते ही हैं कि कितना खतरनाक है। सरकार ने आपके बेटे को बचाया है, अब आप सरकार के वादे की लाज रख लीजिए।'' रहस्य पर से पर्दा उठ गया है। विचार करने की बात है कि ''सरकार की घुसपैठ गिरोह में है या गिरोह की सरकार में।'' अपराध और अपराध नियंत्रण का कैसा अजूबा खेल है। कहानी रोचक शैली में खेल के पैंतरों को सामने लाती है।

संकलन की अंतिम कहानी 'कुदेशन' अत्यंत मार्मिक है। इस कहानी का गठन भी अन्य कहानियों से अधिक सशक्त एवं कलात्मक है। पंजाब में प्रचलित रिवाज को आधार बनाकर लिखी गई यह कहानी हमारे नए समाज में प्रचलित होती 'सरोगेसी' के सवाल को छूती हुई उससे भी आगे निकल जाती है। सरदार जी टुनमुनिया से उसकी कोख किराए पर लेने का प्रस्ताव बड़ी सादगी और विनम्रता से रखते हैं—देखो टुनमुनिया। तुम इसे जोर-जबर्दस्ती बिलकुल मत समझो। यह हमारे यहां का पुराना रिवाज है। अपना हिंदुस्तान तो परंपराओं को देश है। मैं तुम्हारी बहुत इज्जत करता हूं। मैं वाहे गुरु को साक्षी मानकर वचन देता हूं कि मेरे साथ एक साल तक मेरी औरत बनकर रह जाओ और एक बच्चा जन्मने के बाद मैं तुम्हें वापस जाने दूंगा। मैं पच्चीस हजार रुपये के अलावा सारा खाना-खर्चा जिंदगी भर तुम्हें देता रहूंगा।'' टुनमुनिया सरदार जी के प्रलोभन में नहीं पड़ती। लेकिन अपने 'प्रेम' के निर्देश को न मानना उसके लिए संभव नहीं। नेताजी राउर जिनगी से बड़ हमार जिनिगी कुछ नइखे।''—मानने वाली टुनमुनिया एक दिन कुदेशन बन गई।

कहानी यहीं खतम हो जाती तो कहानी 'सरोगेसी' से जुड़ी मानी जाती। कहानी आगे चलती है। बेटा जनने के बाद सरदार जी का करार खत्म होने के बाद टुनमुनिया को वापस जाना होता है, उस पर बच्चे की चोरी का आरोप लगता है। कुदेशन दूसरे देश की औरत (पंजाबी अर्थ में) ही नहीं, कुदेशन बुरे देश की औरत (भोजपुरी अर्थ में) मान ली जाती है।

अनेक स्थानों पर नाटकीयता का समोवश करते हुए कहानीकार ने 'कुदेशन' की कथा को आगे बढ़ाया है। स्त्री के दो मनोभाव—प्रेम और वात्सल्य—के आर्थिक कुचक्रों से गुजरते हुए स्त्री-विमर्श के वृहत्तर प्रश्नों का सामना इस कहानी में करते हैं। स्त्री को केंद्र में रखकर भारतीय जीवन के आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक पक्षों का गहन विश्लेषण करने वाली यह कहानी स्त्री-विमर्श का ढोल पीटने वाली अनेकानेक कहानियों से उत्कृष्ट है।

संकलन में 'वजूद' कहानी का स्वर अन्य कहानियों से भिन्न है। यह कहानी सांप्रदायिक दंगे की आग में जलती कहानी है। आज के हिंदुस्तान में सांप्रदायिकता भी उतनी ही भयावह हो गई है, जितनी गरीबी और भ्रष्टाचार। जब भी सामाजिक समस्याओं की बात आती है बिना इसका उल्लेख किए बात पूरी नहीं होती। अब्दुल चाचा की मौत के माध्यम से सांप्रदायिकता की भभकती ज्वाला और उसमें स्वार्थ साधने वाली हस्तियों की बात उठाई गई है।

'भूख तथा अन्य कहानियां' आम आदमी के अनुभव की कहानियां है। इन अनुभवों को कहानीकार ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से अर्जित किया है। इनमें समाज में आनेवाले परिवर्तन के पदचाप की धमक भी है ('चलो कहीं और चलें', 'खारिज' जैसी कहानियों में) और उन जानलेवा परिस्थितियों की मजबूरी भी जिनके कारण आदमी गलत का विरोध करने की स्थिति में नहीं है (भूख, कुदेशन जैसी कहानियों में)। इतना सब होते हुए भी कहानियों का एक-सा प्रारंभ और अंत, कथा विकास के लिए कुछ खास शब्दों का बार-बार प्रयोग (जैसे उधर—पृ. 21,52,45,138; अगले दिन—पृ. 16,17,45,177, सो—45,174, 175—ये शब्द अन्यत्र भी हैं और ऐसे शब्द कुछ अन्य भी हैं)—जैसी बातें प्रभाव को किंचित क्षीण करती हैं।

भूख तथा अन्य कहानियां/सुभाष शर्मा/भारतीय ज्ञानपीठ/18, इंस्टीट्यूशनल एरिया,/लोदीरोड, नई दिल्ली-110003, ₹ 200

552, प्रदक्षिणा, दक्षिण उमा नगर, सी.सी.रोड, देवरिया-274001, मो. 09450925784

क हा नी

कौतुकी शिल्प से परे

अरुण देव

नई शताब्दी के पहले दशक की कहानियों की दो ख़ास विशेषताएं हैं; राजनीतिक रूप से सही होने की नैतिकता से मुक्ति और निर्मम भाषा। अब बाजार हमारा नियंता है, मास कल्चर के नाम पर साहित्य, संगीत और सभ्यता सब कुछ पण्य है। 'जो बिकता है वही टिकता है' से संचालित संस्कृति-उद्योग का दबाव हिंदी साहित्य पर भी देखा जा सकता है। अंग्रेजी के दोयम दर्जे के लेखकों के ऐश्वर्य ने यह प्रतिस्पर्धा और बढ़ा दी है। कहानी के इधर केंद्र में आने के अपने निहितार्थ हैं। एक पीढ़ी देखते-देखते पत्रिकाओं में युवा कहानीकार के रूप में अवतरित हो चुकी है। इस पीढ़ी का अपना कोई साझा दर्शन नहीं है। विचारधारा का अंत इसे अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से अलग करता है। कौतुकी शिल्प और निर्मम भाषा में राजनीतिक रूप से सही होने की नैतिकता से मुक्त यह लेखन बाजार को फिलहाल भा रहा है। मांग के आधार पर तैयार इस लेखन में बहुत कुछ गढ़ा हुआ, अधकचरा और अपाठ्य है। इस बाढ़ में नई रचनात्मकता की पहचान और मूल्यांकन का संकट पैदा हो गया है। कच्चे-पक्के अनुभवों के अनगढ़ वृतांत से कई बार अरुचि पैदा हो जाती है।

कविता से कहानी के मैदान में आने वाले योद्धाओं की संख्या में भी पर्याप्त इजाफा हुआ है। कुछ दोनों में संतुलन बनाने में असंतुलित हो रहे हैं तो कुछ ने कविता को तजकर कहानी को अपना लिया है। कविता के तत्त्वों के निषेध की चाह में ये कवि-कहानीकार इतने दूर चले गए हैं कि इनकी भाषा में अखबारी तटस्थता आ गई है। रघुवीर सहाय की भाषा और भीष्म साहनी की निर्लिप्तता से इन कहानियों का ढांचा तैयार हुआ है। पिछली पीढ़ी की सौंदर्यानुभूति और जादुई यथार्थ से ये कहानियां दूर आ गई हैं। आवारा पूंजी और उत्तर-औपनिवेशिक जीवन स्थितियों ने, ऐसा लगता है कि जीवन रस सोख लिया है। इनमें कहीं-कहीं निरर्थकता बोध भी है।

इन कहानियों में वह नागर मन है जो शहरों से दूर कथानक की तलाश में गांव-अंचल में भटक रहा है, व्यवस्था की विद्रूपता और लूट के संगठित तंत्र (लोकतंत्र) में जी रहे और जीने की जिद्द में मुब्तिला लोगों के चेहरे इन कहानियों में हैं, यहां होरी नहीं गोबर है जो शहर में तो आ गया है पर कर्ज है कि उतरता ही नहीं। किश्त चुकाने के लिए वह और उसकी पत्नी 12-12 घंटे खटते हैं। ये कहानियां हताशा की आंच में सुलग रही हैं—धुंआ बन गई हैं पर सीली और गीली लकड़ी से सूखेपन और जलकर मशाल बनने की कोई उम्मीद यहां नहीं दिखती। ये कहानियां यथास्थितिवादी लगती है। पर इनके अंदर भारतीय समाज की गतिशीलता भी है।

इधर जिन लेखकों ने कहानी के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाई है उनमें सूर्यनाथ सिंह भी हैं। उनके कहानी-संग्रह 'कुछ रंग बेनूर' में सात कहानियां हैं। कहानियों के माध्यम से अपने समय और सरोकारों को समझने का प्रयास है। कहानियों का पर्यावरण देशज है। एक ऐसे समय में जब वाग्जाल को कला समझा जा रहा है और गाल बजाने को विचारधारा, इन कहानियों की लोककथा जैसी सहजता चकित करती है और मनुष्यता के प्रति आस्था को आश्वस्त। कुछ कहानियां तो 'एक राजा था' जैसी टेक से प्रारंभ होती हैं। संग्रह की पहली कहानी 'ठठेरे की मशीन' और अंतिम कहानी 'नचनिया राजा' इसी तरह की कहानियां हैं। इस शैली की कहानियों की एक विशेषता यह भी होती है कि वे संप्रेषणीयता और उत्सुकता के धागे से बुनी जाती हैं और इनका फलागम किसी नैतिकतावादी लक्ष्य में होता है। सूर्यनाथ सिंह इस शिल्प में समकालीन विद्रूपताओं को इस तरह जोड़ते हैं कि वह हमारा अपना समय बन जाता है। 'ठठेरे की मशीन' कैसे हमारे आज के मशीनी और मुनाफाखोर नियति से जुड़ती है इसे देखना दिलचस्प है। एक बहुधंधी ठठेरा तरह-तरह के धंधे आजमाने के बाद एक ऐसी मशीन लगाता है जो धीरे-धीरे आदमी के श्रम को व्यर्थ कर देती है और एक अनुत्तरित सवाल पैदा होता है कि—'तो

फिर आदमी का क्या होगा'। पूंजीवाद की बर्बरता और लाभ के लोभ की अंतहीनता को यह कहानी अपना कथ्य बनाती है वह भी लोककथा की कहन में। इसका मारक ठंडापन बेचैन करता है। सिस्टम का मनुष्यविरोधी चरित्र इस कहानी में निखर कर सामने आया है। इसी तरह 'नचनिया राजा' में सत्ता की निरंकुशता और सत्ता से संस्कृति एवं कलाओं के रिश्ते को कहानीकार ने किस्सागोई अंदाज में बयां किया है। एक लोक कलाकार अपनी कला के बल पर राजा के यहां 'लोक कला एवं संस्कृति प्रोत्साहन मंत्रालय' का पद प्राप्त कर लेता है। राजा की इकलौती बेटी उसकी कला पर रीझकर उससे विवाह कर लेती है। कहानी यहां से शुरू होती है कि वह कलाकार अब कलाकार न होकर राजा हो जाता है। उसकी कुंठाएं सामने आती हैं—राजकाज के नियम बदल दिए जाते हैं—और अंततः वह एक निरंकुश और अत्याचारी व्यक्ति में बदल जाता है। कहानीकार ने बीच-बीच में समकालीन प्रसंग भी जोड़ दिए हैं जिससे कई बार यह हमारे समय का आख्यान बन जाता है।

राजनीतिक रूप से सही होने की नैतिकता का एक दबाव रचनाशीलता पर रहा है। कथ्य की स्वाभाविक परिणति इससे प्रभावित होती है—खासकर स्त्री-पुरुष के जटिल संबंधों पर आधारित कहानियों का पूर्व निश्चित परिणति। सूर्यनाथ सिंह इस स्टीरियोटाइप निरर्थकता से बाहर निकलने का प्रयास करते हैं, उनका यह साहस उनकी कहानियों को वास्तविक फलागम तक ले जाता है। खासकर 'आधा कीच तिहाव जल' और 'चकरी' में पहली कहानी में एक विवाहित पुरुष के अपने प्रेम और परिवार के चुनाव का सवाल है जिसमें उसकी प्रेमिका फंसी है। दरअसल स्त्री-पुरुष में शारीरिक संबंधों को अक्सर स्त्री के पक्ष से देखा जाता है। सहमति पर आधारित संबंधों में पुरुष के पीछे लौटने को स्त्री के शोषण के रूप में देखने की मनोवृत्ति पर यह कहानी सवालिया निशान खड़े करती है। इस तरह से यह स्त्री का सामंतवाद है। 'आधा कीच तिहाव जल', नायिका से हमदर्दी रखने वाले उस युवक की दृष्टि से लिखी गई है जो एक सामाजिक कार्यकर्ता अजय से उसके संबंधों के बनने और बिगड़ने का साक्षी है। अजय विवाहित है और अंत में अपने परिवार को लौट जाता है। नायिका इसे अपना शोषण समझती है। वह युवक कहता है—आज आप जिसे अपना शोषण कह रही हैं, वही कल तक आपके मुताबिक ठीक था। 'चकरी' कहानी में 'टी.वी. जर्नलिज्म द्वारा अतिरेकी ढंग से प्रस्तुत किए जा रहे 'स्टोरी' के पीछे की कहानी की पड़ताल है। घरेलू हिंसा का आरोपी नायक जब कहानीकार के समक्ष अपना पक्ष रखता है तब स्त्री-पुरुष संबंधों का एक नया आयाम खुलता है। घरेलू झगड़ों के नारीवादी निष्कर्षों की व्यर्थता, पक्षपाती, सहानुभूति, अवधारणा और वास्तविकता के बीच यह कहानी झूलती है। मल्टिनेशनल कंपनी के दफ्तर को डिजाइन करने वाले एक आर्किटेक्ट पर यह आरोप है कि वह अपनी बीवी को नाजायज संबंधों के शक में पीटता है। प्रेम विवाह, महानगरों में जीविका का दबाव और शक की मनोग्रंथि से जूझती यह कहानी कई स्तरों पर क्रियाशील है। स्त्री के अकेलेपन की पीड़ा, पुरुष के गलत समझने जाने की विवशता और अंततः लोकप्रिय माध्यम द्वारा इसकी सतही व्याख्या ने कहानी को बहुकोणीय बना दिया है। जेल में बंद पति और हॉस्पीटल में उपचार करा रही पत्नी के बीच का दाम्पत्य इस रूप में बचा हुआ है—'मुकदमा मेरी वाइफ ने नहीं, उसकी मां ने किया है। और आप देखिएगा मेरी वाइफ जैसे ही हॉस्पीटल से बाहर निकलेगी वह मुझे जमानत पर घर ले जाएगी।'

संग्रह की 'कुछ रंग बेनूर' शीर्षक कहानी गांव की राजनीति के जातिवादी पहलू को सशक्त ढंग से सामने लाती हैं। तंत्र का तिलिस्म अपनी पूरी बर्बरता के साथ यहां उपस्थित है। इस कहानी में सूर्यनाथ सिंह ने बेलौस ढंग से 21वीं सदी के गांवों में वंचित वर्गो के अपने को रेखांकित करने की इच्छा और स्थापित वर्ग के वर्चस्व की बढ़ती छटपटाहट को प्रस्तुत किया है। गांव समाज की जमीन पर दलितों द्वारा अंबेडकर की मूर्ति लगाने के प्रयास में यादवों से उनकी टकराहट और राजपूतों की महीन रणनीति का प्रामाणिक वर्णन किया गया है। इस क्रम में हत्या, मुआवजा, घेराव, पत्रकार, थानेदार, नेता सब आते हैं। यह उत्तर भारत के लगभग हर गांव का यथार्थ है। इस षड्यंत्र में सब पराजित हैं। बदला लेने की प्रवृत्ति ने दूसरे पक्ष को भी सशंकित कर दिया है। बढ़ते टकराव ने इस मौन 'क्रांति' को कमजोर किया है। प्रतीकवाद के इस व्यर्थ पर लेखक की निगाह है।

'गंध' और 'दिशाभ्रम' अंदर की ओर यात्रा करती कहानियां हैं। गांव से शहर आ बस चुके जानकी प्रसाद रेल यात्रा में किसी न मालूम गंध से परेशान हो बार-बार अतीत की ओर लौटते हैं। उनके अंदर का गांव घर के लोगों से दूर होते जाने की पीड़ा से उदास है। यह कहानी उस बेचैनी और अकुलाहट को न केवल प्रतिबिंबित करती है, बल्कि पाठक तक संप्रेषित भी करती है। 'दिशाभ्रम' में लड़की की शिक्षा के बढ़ते खर्च और उसकी पूर्ति कर पाने में असमर्थ पिता की विवशता को लेखक ने पकड़ा है। मनोजगत की कुछ छवियां इन दोनों कहानियों में हैं पर इनके सरोकार सामाजिक हैं। सूर्यनाथ सिंह स्थितियों के कहानीकार हैं, मनःस्थिति के नहीं।

मनुष्य ने सभ्यता के जिस आवरण को इतने जतन से ओढ़ रखा है अब उसमें उसकी आत्मा कसमसाने लगी है। प्रकृति से दूर अप्राकृतिक जीवन शैली ने उसका कसबल ढीला कर दिया है। मनुष्य के ये स्वनिर्मित जाल और जंजाल साहित्य और कलाओं के विषय रहे हैं। आज का कहानीकार इससे जूझ रहा है। सूर्यनाथ सिंह ने अपनी कहानियों में गांव से लेकर शहर तक फैले उन मनुष्यविरोधी स्थितियों को पकड़ा है; जहां लाभ और शोषण से बदरंग होता जीवन है तो उदास और उदासीन होता जीवन-राग। इन कहानियों में कथा तत्त्व भरपूर है। शिल्प में प्रयोग के अधकचरेपन से बचा गया है। कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार से कोफ्त होती है। भाषा लोक के लहजे में है पर सिर्फ संवाद के रूप में ही ठीक है। कहानीकार के रूप में सूर्यनाथ सिंह की यह यात्रा लंबी और मानीखेज होगी ऐसा लगता है।

कुछ रंग बेनूर/सूर्यनाथ सिंह/इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णा नगर, दिल्ली-110032/ ₹ 175

साहूजैन कॉलेज, नजीबाबाद, बिजनौर-246763, (उ.प्र.) मो. 9412656938

जीवनस्पर्श की कहानियां : तीसरी बीवी

संजय कुमार सेठ

'हृदय' और 'बुद्धि' के योग से संयुक्त 'अभिज्ञात' का ज्ञात मन सपने देखता है। ये सपने भी रोचक, उत्तेजक, मारक और दिल दहला देने वाले हैं। यह लेखक का पहला कहानी-संग्रह है 'तीसरी बीवी' जिसमें कुल छोटी-बड़ी 25 कहानियां 120 पृष्ठों में पसरी हुई हैं। यह संकलन रचनाकार की रचनादृष्टि को समझने का अवसर देती है।

अपने सृजनकर्म में 'अभिज्ञात' बदलते हिंदुस्तान की धधकते-धड़कन को अपने पाठकों को सुनाते हैं। भारत का वही परिदृश्य नहीं रह गया जो 25-30 वर्ष पहले था। गांव, शहर, विकास, मूल्य, घूसखोरी, भ्रष्टाचार आदि की जटिलताओं में लगातार वृद्धि हुई है। 'इण्डिया शाइनिंग' की नई पीढ़ी हिंदुस्तान की खाती-पीती और अघाती संस्कृति को महत्त्व देती है। 'पहलवान का बेटा पहलवान' नहीं होता विज्ञान की इस 'थ्योरी' को उग्रपूंजीवाद ने नकार दिया है। वह लोगों को विज्ञापित कर-करके बताता है कि देखो! पूंजीपति का बेटा ही पूंजीपति होगा। इस नई पूंजीवाद के स्वार्थी रक्षक हैं कोड़ा, तेलगी, पं.सुखराम, पप्पू यादव और रामालिंगम् राजू जैसे लोग। यही लोग आधुनिक भारत के कर्णधार है। इन्हीं के दल-बल पर हिंदुस्तान की समेकित संस्कृति और गंवई सहजता नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। भारत में एक दौर 1960-70 का था, जिसमें राजनैतिक, सांस्कृतिक गतिविधियों एवं साहित्य के बल पर जनपक्षधरता की वकालत की जाती थी। इस युगबोध के लोग कमजोरों, गरीबों और उपेक्षितों की लड़ाई के लिए जीते-मरते थे। किंतु 1990 के बाद, मंडल, कमंडल और भूमंडलीकरण ने भारतीय जनमानस में 'सपने' देखने और दिखाने का जज़्बा पैदा किया। 'एमएनसी' बिल्कुल नई 'यूटोपिया' लेकर हिंदुस्तान में अवतरित हुई; मल्टीनेशनल कंपनी के आने से रोजगार बढ़ा, लेकिन उस अनुपात में नहीं जिस अनुपात उसने (MNC) लोगों को सपने दिखाए थे गरीबी मिटाने के। कार्पोरेट कृषि, मॉल्स, मैक्डी और मेट्रो कल्चर ने इधर भारतीय सामाजिक संरचना में हलचल पैदा की। इस हलचल से भारत का मध्यवर्गीय समाज उद्वेलित हुआ लेकिन 'हाशिये' का सामाजिक जीवन स्थिर और ग़लीज है। भारतीय समाज का यह उत्पीड़ित समूह मौसम की मार से पस्त है और कु-विकास नीतियों से बेहाल है। इन्हीं परिवर्तनों को 'अभिज्ञात' चिह्नों एवं संकेतों के माध्यम से अपने कथा का आधार बनाते हैं। वे अपनी कहानियों में दिखाते हैं कि 'बंगाल' कभी नवजागरण का प्रतीक था। रोजगार के वहां अकूत संसाधन थे। 'मिले' आधुनिक मंदिर नबी, इन्हीं मंदिरों से व्यापार के नए-नए 'बिजनेस ताइकून' पैदा हुए। किंतु एक आम

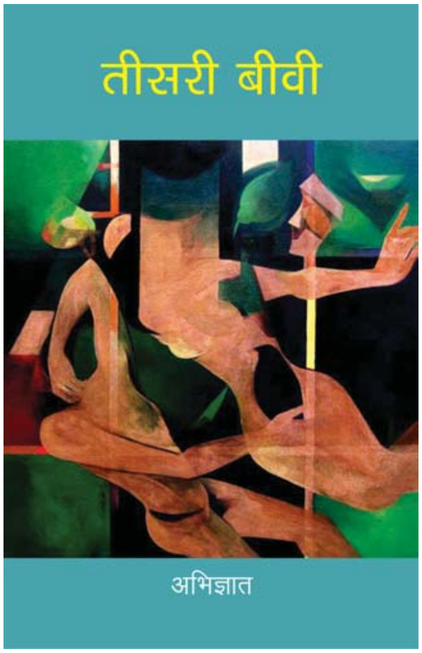

भारतीय का जीवन नरक बन गया।

इस संग्रह की बानगी कहानी 'तीसरी बीवी' है। इस कहानी के केंद्र में 'औद्योगिक कचरे' पर पलने वाला समाज का चित्रण है। कहानी में 'बूढ़ा नूर' और 'हबीबी' का जीवन बद से बदत्तर है। तंगी और अभाव से नूर कराह रहा है। इसमें नूर की बेटी का आना 'कोढ़ में खाज' जैसा है, जिसे उसका मरद मार कर मैके भेज देता है। नूर अपनी बेटी को स्वयं हबीबी के घर पहुंचा देता है क्योंकि वह उसकी परिवरिश करने में अक्षम है। हबीबी के पास पहले से दो पत्नियां मौजूद थीं। हबीबी कचरे पर पलने वाले लोग के बीच साहूकार जैसा है, किंतु उसकी भी वास्तविक हालत खराब है। वह जेल में बंद है। उसकी नई बीवी घर में आ चुकी है। 'अभिज्ञात' इस भयावह स्थिति का मार्मिक वर्णन करते हैं। वे उस परिवेश की दारूण दशा को उभारते हैं, जहां नूर और हबीबी जैसों का समाज पलता है। यथा—'खांव-खांव खांसने की आवाज घर-घर से उठती थी तो अनवरत क्रम पाड़े के कोने-कोने की चीजों को उलट डालने को व्यग्र-सा जान पड़ता था। कच्ची भित्तियां कांपती-सी लगती थीं और टुटहे नाममात्र के दरवाजों, खिड़कियों, छप्परों और दरकी दीवारों से हवा का ठंडापन उनकी नाक और सीने में गिजगिजे मोम-सा व्याप्त था, जो खंखारने और नाक सुकड़ने की क्रिया को रसद पहुंचा रहा था।'' (पृ. 38) लेखक की यही पैनी दृष्टि 'उसकी गरीबी' 'फूलबागान का सपना' जैसी कहानियों में भी दिखती है। यहां बल अभाव के दर्शन पर नहीं है, बल्कि 'उस 'व्यवस्था' पर है जिनसे 'खड़दह' जैसा परिवेश लगातार बन रहा है। यह एक वैचारिक प्रतिबद्ध शहर की कथा है। गरीबी की राजनीति करने वाले, ये छद्म मार्क्सवादी सोनागाछी, चिड़ियामोड़, फूलाबगान, टीटागढ़, खदहड़ह

जैसे मुहल्ले बसाते हैं। रचनाकार कविता के ढब पर लघुकथाएं रचाता है। ये कथाएं गंभीर घाव करती हैं। इनका गठन संक्षिप्त है लेकिन उसकी मारक क्षमता तिलमिलाने वाली है। इस दृष्टि से 'जश्न', 'मुक्ति', 'बंटवारे', 'तरकीब', 'साख की कीमत', 'शिनाख्त नहीं', 'कितना खराब', जैसी कहानियां प्रमुख हैं। लघुकथा 'तरकीब' गांव के विद्वान पंडितों पर केन्द्रित है। समय के प्रवाह में ब्राह्मण गरीब होते हैं किंतु अपनी 'कूटभाषा' के बल पर पुनः अमीर होकर समाज में अपनी प्रभुता स्थापित करते हैं। लेखक बताता है कि आज भी हिंदुस्तान में यह संप्रभु वर्ग अपनी कुशल 'सामाजिक ताकत' और 'कूटनीति' के दम पर समाज में सबका 'पूज्य' बना हुआ है। बहुतों के लिए आज भी गांव, गरीबी और पिछड़ेपन का पर्याय है। अभिज्ञात इस धारणा को तोड़ते हैं। वे गांव की सहजता, तिकड़म, जीवतंता और कलाप्रियता को उजागर करते हैं। ग्रामीण अंचल पर केंद्रित 'तोहफा', 'पड़ोसन', 'मुन्नीबाई' बेजोड़ कहानी है। क्रमशः रोजगार के संसाधन शहर केंद्रित हो रहे हैं। ऐसे में गांव केवल स्मृतियों में है या तो 'पिकनीक स्पॉट' के रूप में। 'मुन्नीमाई' की 'कहाइन' ठाकुरों के घरों में राज करती है। गर्मी के दिनों में मुन्नीबाई की पूछ बढ़ जाती है। मुन्नी पर 'कब्जा पाने की परिवारों में होड़ सी रहती' (पृ. 117) है। पूरे ठाकुर घराने में मुन्नीबाई की ठसक है। वह नखरे करती है, और अपनी देह दबवाती है, तथा उनकी नमकीन, बिस्कुट भी खाती है। अपने 'हाड़तोड़ जांगर' के बल पर। शहराती बहू-बेटियों को आराम चाहिए और काम करने वाली गांव में बाई केवल मुन्नी है। गांव में मुन्नी के किस्से बहुत हैं। इसकी दरियादिली और कलाप्रियता का पता तब चलता है, जब कलाकार बहू वापस शहर जाने लगती है। मुन्नी पैसे न लेकर बदले में 'एक खूबसूरत शाल गायिका बहू की तरफ बढ़ा दिया—'भगवान तुम्हें तरक्की दे। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है बहू। फूलो-फलो। फिर जल्द आना तुम्हारा इंतजार रहेगा।' (पृ. 120)। यह है अनपढ़, गवई बाई की कलाकार बहू को दिया गया प्यार, सम्मान और विदाई। इस प्रकरण पर गांव के कई लोगों की आंखें नम होती हैं। यह कहानी गांवों की रागात्मक संबंधों की ताशीर को जिंदा रखती है।

आधुनिक व्यक्ति जटिलताओं का पुंज है। बाजार, मीडिया और तकनीकी क्रांति ने मानव जीवन को एकतरफ सुविधाभोगी बनाया तो, वहीं दूसरी ओर वह मनुष्य को आत्मकेंद्रित, स्वार्थी, दंभी और लूटेरा बना दिया है। मानव की स्वाभाविक गतिशीलता का क्षरण हो रहा है। व्यक्ति मनुष्यता का धर्म खोकर प्रतियोगी बन गया है। ऐसे में पारिवारिक संबंधों की जटिलताएं भी बढ़ी हैं। नई-पीढ़ी व पुरानी पीढ़ी में द्वंद्व, दाम्पत्य जीवन का उदासीपन, बच्चों का भावनात्मक रूप से कमजोर होना, प्यार जैसे सार्वभौमिक मूल्य 'अर्थ' के अनर्थ में बदल गए हैं। जाति की जकड़न ढीले और कड़े हुए हैं। लेखक इन सभी जटिलताओं को कथा बनाता है। इस दृष्टि से देखें तो 'कायाकल्प', 'कुलटा', 'शिनाख्त नहीं', 'फिर मुठभेड़', 'उसके बारे में' 'कपड़ों में बसी याद' इत्यादि उत्कृष्ट कहानियां हैं। 'औलाद' कहानी की मां अपने कैरियर के लिए अपने नवजात शिशु की हत्या चाहती है क्योंकि वह मानती है 'मैंने इसे मजबूरी में जन्म दिया है महज अपनी जान बचाने के लिए। मैं अपने प्रेमी को खो चुकी हूं। अब नौकरी से हाथ नहीं धोना चाहती और ना ही लोगों के ताने सुनने के लिए तैयार हूं। मैं इस बच्चे से छुटकारा पाना चाहती हूं।' (पृ. 13)। यह कथा एयर हॉस्टेस नायिका की है, साथ ही एक संवेदनशील डॉ. नरेश की भी है। डॉ. नरेश बच्चे को बचाना चाहता है किन्तु 'नर्सिंगहोम' का मालिक पैसों के दबाव में बच्चे को अन्य डॉ. से खत्म करवा देता है। बच्चे के खात्मा से निःसंतान दम्पति उदास हैं तो नरेश का शरीर प्राणशून्य है। 'कैरियर' और अकूत 'धन' की हवस ने आधुनिक मनुष्य का जीवन नरक बना दिया है। अभिज्ञात बार-बार अपने कहानी में इसी कोण को उठाते हैं।

इस कृतिकार की भाषिक संरचना में नयापन है। छोटे-छोटे वाक्य विन्यास और नपे-तुले शब्दों का चयन 'कथ्य' की मार्मिकता को बढ़ाते हैं। कहानी संकेतों, बिंबों, प्रतीकों में धीरे-धीरे आकार लेती है। कहानी में युगबोध ही 'नायक' है। लेखक अपने कहानीपन के लिए अंग्रेजी, अरबी, हिंदी, बांग्ला, देशज शब्दों का घाल-मेल करता है। कहाइन, अहिराने, बाई, पाडे, मठ, गदही, पट्टे, कमरेडवा, भड़भुजापन, गोंजने, बचवा इत्यादि बंगाली और भोजपुरी मिश्रित शब्द-संतुलन से लेखक का यथार्थ-बोध कहीं खंडित नहीं होता है। 'अभिज्ञात' 'फ्लैश बैक टेकनीक' का उपयोग अपनी कहानियों में अधिकांशतः करते हैं। कहानी के बीच-बीच में संकेत, सामासिकता, गवेषणा, वर्णन शैलियों का बखूबी उपयोग हुआ है। इन शैलियों के कारण कहानी में 'बहु-आयामिता' और 'अर्थ-सघनता' बढ़ जाती है। प्रकृति और मनुष्य के बीच साहचर्य आवश्यक है। इनके न होने से पर्यावरण संकट गहरा सकता है। इस संकट की भाषिक व्यंजना की एक रवानगी देखिए—'कछुओं के साथ उनका संबंध इतना प्रगाढ़ होता गया कि वे उनकी भाषा किसी हद तक समझने में कामयाब होने लगे थे। यह साढ़े चार सौ साल की उम्र का कछुआ था। वह उनसे मदद मांग रहा था। उसका कहना था कि समुद्र में तेल निकालने के जो प्रयास किए जा रहे थे उससे समुद्र की भारी क्षति होने जा रही है। समुद्र के पास अथाह संपदा है किंतु उसे प्राप्त करने के तरीके मनुष्य ने नहीं सीखे हैं। उन्हें सीखना होगा। जिस प्रकार से तेल निकालने के प्रयास किए जा रहे हैं स्वयं कछुए की जाति भी खतरे में पड़ने जा रही है और मछली सहित अन्य जीवन भी, जो समुद्र में रहते हैं। (पृ. 60-65) बढ़ी हो सकती है? यह 'अभिज्ञात' ही जाने। इन कथाओं के कुछ बिंदु ऐसे थे, जो कथानक में विस्तार पाते तो उसकी वेदना पाठकों को और झकझोरती। लेखक की 'स्त्री विषयक दृष्टि' पुरुष के नजरिए से देखा गया है। 'प्यार' का प्रसंग अब एकात्मक नहीं है। अब ग्रामीण अंचल ही स्त्रियां भी मुखर होने लगी हैं। फिर भी 'अभिज्ञात' की कहानियां अपने समय के सच को परत-दर-परत खोलती हैं और सच्चाई उनके लिए अर्जित की गई सी नहीं है बल्कि वह सहसा जहां-तहां से निकलकर पाठक के सामने आती है। कई बार वह अपनी बेलौस भंगिमा के कारण हकाबका देती है तो कई बार वह मर्म को बेधती है, शर्मसार करती है, हूक पैदा करती है और कई बार ढाढस भी बंधाती है कि सब कुछ नष्ट नहीं हुआ है।' (फ्लैप से उद्धृत)।

तीसरी बीवी/ अभिज्ञात/ शिल्पायन/ 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032/ ₹ 150

द्वारा विक्की शर्मा, 38/5, शक्ति नगर, दिल्ली-110007, मो. 9868056118

काल शाश्वत का जीवंत अभिलेखागार

कुबेर दत्त

कहा गया है—'कर्मन की गति न्यारी' मगर इसी वैज्ञानिक प्रतिस्थापना के साथ ही यह भी तो कहा गया है—'काल की गति न्यारी...', जो न सिर्फ़, वचन, कर्म, घटना-दुर्घटना, सर्जना-विनाश, निर्माण और ध्वंस, काले और सफेद ही नहीं, शून्यरंगी और बहुरंगी उन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, जड़ताओं-जीवंतताओं, राग-विराग, मौन और मौन संवाद और संवाद- विवाद, प्रतिवाद की गाथाओं में घटित और परिघटित होती चलती हैं, अनेक, रूप और स्वरूप और स्वभाव लेकर...तो उसे क्या कहेंगे? मिथ, सत्य, सत्याभास, इतिहास, इतिहासेतर, चेतन, अवचेतन में चलती एक अंतहीन फ़िल्म जिसका न आदि है, न अंत? 'डूबा सा अनडूबा तारा' कैलाश वाजपेयी द्वारा लिखित एक काव्य-आख्यान है, जिसे समीक्षा के प्रचलित और बहुप्रचलित चश्मों से कैसे जांचा-परखा जा सकता है, नहीं मालूम। यह तो समीक्षा के आचार्य जानें। मुझे तो एक पाठक के नाते यह लगता है कि इस आख्यान की पहले अक्षर से अंतिम अक्षर तक की अगर कोई यात्रा है भी तो वह एक रेखीय नहीं है, ख़ुद कवि के लिए भी नहीं।

देखने में यह लगता है कि यह काव्य-आख्यान हमारे मिथकीय कथानकों और चरित्रों का व्याख्याता है, जो मूलतः है भी, मगर यह सारा काव्योपक्रम हमें हमारे वर्तमान के क्रूर अंधेरों में भी ला खड़ा करता है। 'महाभारत' जैसे अभी समाप्त ही नहीं हुआ और सन् 2010 में भी जारी है और लगता भी नहीं कि कभी समाप्त भी होगा। फिर भी सारा काव्य-विमर्श किसी सद् उद्देश्य के लिए ही तो है या होता है, तो वह इस कृति में भी है। अश्वत्थामा की मिथकीयता में 'इंसानियत' की उपस्थिति ठीक यही करती है।

सुशील सिद्धार्थ कहते हैं—'डूबा सा अनडूबा तारा' विरूप होती जा रही जीवनचर्या में एक प्रार्थनापरक मंगलाशा है।'

यह कृति मिथकीय कथाओं के ज़रिए विकट होते वर्तमान, छीजती मानवता, संतप्त पर्यावरण और उजड़ते मानव-मूल्यों की गाथा तो है ही लेकिन प्रकृति और मनुष्य के सुरक्षित रहने की सद्कामना भी है। कवि की एक पंक्ति में यह अंतर्निहित है—**'वृक्ष ज़िन्दगी के पहरुवे हैं'**। सब कुछ मगर काल की 'गति' पर निर्भर है। कवि की ही पंक्तियां हैं—

जो हवा पी रहे तुम
जिस धरती पर सस्पंद हो
उसका सब ब्यौरा अंकित है—
दिक् क्षेत्र में...'

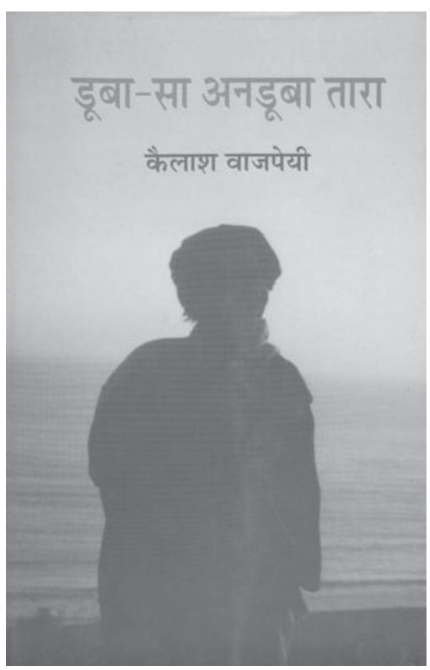

असल में, काल, शाश्वत का जीवंत अभिलेखागार है। काल के भी कई रूप हैं। एक काल का वह जो मिथकों में है, दूसरा वह जो इतिहासबद्ध है, तीसरा वह जो मनश्चेतना से होकर प्रवाहित है। प्रतीत होता है कि इसी सर्जनात्मकता की अंतरंग मनःस्थिति में 'डूबा सा अनडूबा तारा' की रचना हुई है।

वस्तुतः यह प्रबंध-काव्य अनेक मिथकीय चरित्रों और भारतीय समाज के महान नायकों-आदर्शों यथा कृष्ण, बुद्ध, शंकर, कबीर और अनेक मसीहाओं, साधुओं-संतों की प्रांजल, पारदर्शी वाणी और सीख के बावजूद मानवता आज भी पीड़ित है, इसकी तरफ़ इशारा करता है। आदमी के दूजे के ख़ून का प्यासा, सत्ताधीश अभी के धृतराष्ट्र, बच्चे-औरतें अभी भी दरिन्दगी के शिकार...ग़रीबों के पेट अभी भी खाली और होंठ सिले हुए, राजकाज काइयां, समाज कुकर्मी-कामी, सोच-समझ को निगलते हुए उत्कोच के विषधर, बोध, शेध बेमानी, क्रोध-प्रतिशोध जारी... और इसीलिए अंततः कवि प्रार्थना के शब्दों में कहता है—

...इस दुर्मद काल में
कोई
पराचेतना आए
झकझोर कर हमें
जगा दे गहरी नींद से...

'डूबा सा अनडूबा तारा' प्रबंध काव्य के उपोद्घात में कवि कैलाश वाजपेयी कहते हैं—**'भ्रूण हत्याओं'** के आधिक्य से व्याकुल मेरा मन, जब ऐसे जघन्य कृत्य का उत्स खोजता हुआ पीछे की ओर मुड़ा तब मुझे वहां महाभारत के युद्ध में जहां एक ओर अभिमन्यु को घेरकर मारने वाले महारथी मिले वहीं द्रोणाचार्य को परास्त करने की युक्तिपूर्ण

योजना के अंतर्गत, युधिष्ठिर के मुख से कहलवाया गया वह वाक्य भी मिला– 'अश्वत्थामा हतो...'। आठ चिरंजीवियों में से एक, अश्वत्थामा द्रोणाचार्य तथा गौतमी कृपी का इकलौता आत्मज था। द्रोणाचार्य का पुत्र होने के नाते अश्वत्थामा को 'द्रोणायन' भी कहा गया। जन्म के समय वह 'उच्चैश्रृवा अश्व' की तरह हिनहिनाया था और इतने ज़ोर से कि तीनों लोकों को कंपकपा दिया था। इसीलिए 'अश्वत्थामा' नाम पड़ा। (म. आ. 167.29 : द्रो. 167.29.30) रुद्र के अंश से उत्पत्ति होने के कारण उसमें क्रोध और तेज था।

...दूर सागर के किनारे
लड़ रहे पियक्कड़
मार रहे
सरपत उखाड़ कर
वंशधरों–अपने ही रिश्तेदारों को...
डूबे मद में यदुवंशी
कर रहे ख़ून
अपनों का बेहोशी में

और इतना पराक्रमी, इतना विवेकवान, महान बौद्धिक, नीति-पुरुष यानी कृष्ण केशव, उसकी गति क्या हुई? युद्ध समाप्त होने के बाद भी युद्ध की अंधी-अनंत मनःस्थितियों से ग्रस्त बचे-खुचे लोग, जो परिवार-जन ही हैं, नातीदार हैं, एक ही बस्ती के रहने वाले हैं, सहजन हैं, आपस में लड़े जा रहे हैं। केशव उन्हें समझाते हैं, बंद करो यह सब, निर्णायक युद्ध कब का ख़त्म हो चुका...यह पागलपन है...मगर उस महान भाष्यकार, महान रणनीति-विशेषज्ञ की कोई नहीं सुनता। कृष्ण शिथिल होकर, शक्तिहीन होकर बूढ़े पीपल के नीचे विश्रांति के लिए ढह जाते हैं। एक बहेलिया के तीर पर शिकार बनते हैं और अंत को प्राप्त होते हैं। सत्य जानने पर बहेलिये को बहुत दुख और ग्लानि होती है। वह रोता कलपता है। धिक्कारता है अपनी 'भूख' को। मगर मृत्यु को प्राप्त होते केशव ने फिर भी सत्य कहने की चेष्टा की–

सुन जरा व्याध–
'भू' और 'ख' कोरे अक्षर नहीं
भूमण्डल से लेकर खगोल तक
सब तरफ़ भूख का पसारा है...
बेकार है पश्चाताप
सब कुछ यहां सब कुछ का आहार...

केशव कुछ कहते-बताते हैं। जैसे कि 'नैतिकता' सिक्के का एक पासा है, दूसरा है पाप। यह भी कि जीव-अजीव सब अपने स्वभाव के वश में हैं। यह भी कि मनोरथ का निर्झर तटविहीन है जबकि मनोरथ की मारी यह दुनिया न जाने कहां भागी जा रही हैं। भूगोल से खगोल तक एक ख़ालीपन है। यद्यपि वे कहते तो वह भी हैं कि सब कुछ था क्या जान लेने से अजानापन बेमानी हो जाता है, यह उन्हें भी नहीं मालूम। मगर वे यह निश्चित तौर पर जानते हैं कि समय न कहीं आता, न जाता वह बस विलीन हो जाता है समय की महाकोख में।

लेकिन सब कुछ इतना आसान, इतना बोधगम्य भी कहां है? जैसे कि हत्या! है भी तो इतना कि कौतुकी पटकथा हत्या से ज़्यादा भयावह है और कि हत्या की गाथा बड़ी गहन है–केशव बताते हैं कि हत्या का पूर्वाभास, उन्हें मां के गर्भ में ही हो गया था। लेकिन लोग सोचते हैं कि भ्रूण तो बेजाना होता है, उसे क्या पता? मगर भ्रूण की भी जब हत्या होती है तो वह भी छटपटाता है...। फिर 'हत्या' के अनेकार्थी की व्याख्या भी करते है। केशव...कि

चाहकर, न चाहकर
हर कोई हत्या ही करता
उन त्रसरेणुओं की जो निगोद हैं
शिशु चूसता है स्तन जो
सफेद द्रव्य मां के शरीर का
वह चूसन महीन हत्या भी है
उपकार भी...
न पिये पय तो छाती फट जाय मां की।
देह की पन-पन के पीछे
पता नहीं फैला कितनी दूर तक
कैसी किन-किन आहुतियों का जाल
हर तरह की सत्ता का महल
हत्या की नींव पर खड़ा...

लेकिन 'हत्या' कुछ और भी तो है! स्वयं केशव भी स्वयं को 'हत्यारा' ही ठहराते हैं। वे जानते और मानते हैं कि उन्होंने भी कम उत्पात और अपकार नहीं किए। उन्होंने नाग को नथा, इंद्र-पूजा का विरोध किया, पार्थ के बहाने ही सही, सत्यवादी को झूठ के लिए उकसाया और 'प्रेम' में भी हत्या होती है। स्वयं केशव अपनी स्थिति पर कहते हैं–

रहा प्रेम, उसका संघात तो और जानलेवा
है
हम प्रेम करते हैं
तिलतिल कर, हत्या भी करते हैं।
उसकी
मुझे हुआ था जिससे और जिसने
मुझे दे डाला अपना सर्वस्व
क्या हुआ उसका?

केशव की बात सुनकर व्याध को भी जैसे आत्मबोध होता है। उसे याद आते है वे सारे मासूम जानवर जिन्हें व्याध ने मारा, क्षुधा शांत की। ग्लानि भी घेरती है उसे। मगर तर्क के मारे केशव व्याध को ग्लानि के कुंड से बाहर निकालने की चेष्टा करते हैं। कहते हैं, सिर्फ तुम क्यों ग्लानि की आग में धधकते हो? यहां हर कोई वध करने में लीन है। सबके भीतर भूख की दहकती भट्टी है। मगर साथ ही यह भी कहते हैं कि पेट भरने का तर्क भी एक बहाना है। सच ये है कि 'मारने' की प्रवृत्ति से सब ग्रस्त हैं। सब अपनों को मार-काट रहे हैं। केशव की बातें सुन व्याध पानी-पानी हो गया।

फिर अश्वत्थामा, जो प्रथमतः और अंततः यह सब देख रहे हैं, उन्हें अर्जुन का विषाद स्मरण हो आता है जो तीर चलाने के पहले हुआ था और शिकारी का विषाद सामने है कि वह भी कृष्ण पर तीर चलाकर विषाद में है। मगर केशव उसे क्षमा कर देते हैं–यह कहकर कि राम के रूप में वे जब थे और उन्होंने बालि को छल से मारा था तो बालि ने उदारचरित होने के कारण उन्हें क्षमा कर

दिया था—

उसी क्षमा से स्पंदित मैं क्षमा कर,
क्षमा मांगता हूं
पहले कभी छिपकर मैंने तुम्हें मारा
अब देता हूं वर,
जाओ मौज करो
आनंद लोक में...

यह सब देखकर केशव के सारथि दारुक ने प्रश्न किया—'जिसने मारा, उसे क्षमादान, अभय दान'? 'हत्यारे' को वरदान? तब अपने अंत के पहले केशव स्पष्ट करते हैं—

अव्यक्त होने से पूर्व
व्यक्त रहकर वर्ष दर वर्ष,
मैंने प्रयत्न किया युद्ध न हों
बना रहे सौमनस्य...

लेकिन महाभारत-कथा को सब जानते हैं कि कृष्ण के तमाम प्रयासों, तमाम सदिच्छाओं को ज्ञान काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और अज्ञान को ज्ञान समझ, कुतर्क को तर्क समझ...विवेकहीन होकर अंततः सब लड़े और छल कपट भी खूब हुए। खूब हुए ही...। तो केशव भी कहते हैं—

...असल में अपने संकल्प से
था मैं अवतरा
देह की गिरफ्त में रहा
हर कर्म को खिलवाड़ मानकर सकेलता
निर्विकार भाव से खेलता खेल जीतने का
हारने हराने का...
युग बीतने की बेला में
यों भी विरम रही थी उत्तेजना
बाण तो बहाना था
कृतज्ञ हूं ज़रा व्याध का
चुक तारा हो गया
बीते किसी युग के उधार का...

अपनी अनभिज्ञता के कारण जो पाठक न समझ पाएं संदर्भ इस 'उधार के समाहार' का, तो कवि ने यह प्रश्न एक गिलहरी के ज़रिए उपस्थित करा दिया—

यह किस उधार का समाहार था?
सोने से पहले पूछा गिलहरी ने
अश्वत्थ से
'बालि पर छिपकर मारे गए बाण का'
बोला अश्वत्थ...

'डूबा सा अनडूबा तारा' के इस मुकाम

पर पहुंच कर कवि बुद्ध के से अनुभव को गीत में पिरोता है—

व्यथा सभी को गले लगा ले
शोक मना ले पल दो पल
नहीं पता
कब बहे, ढहे रे तेरा जर्जर ताजमहल

बुद्ध की ही अनुभव-वाणी को जैसे कवि सार-संदेश के रूप में कह रहा है कि जन-जीवन में, वनस्पतियों में, प्रकृति के कार्य-व्यापारों में चहल-पहल बची रहे। बुद्ध की अनुभव वाणी ने सामंतों और राजाओं-शासकों के दूषित दिमाग़ों में बोध का उजास पैदा किया और देखते-देखते बुद्ध-वाणी का विस्तार होता गया। लेकिन तृष्णा ने फिर भी अनेकों को बार-बार धर दबोचा। फिर भी बुद्ध की वाणी गूंजती रही। सार यही था—

सुख सदा से सिर्फ़ अनुमान है
और दुख का भी कोई प्रतिलोम नहीं
तुमने न जन्म देखा अपनी आंख से
शव भी अपना देख कहां पाओगे?
इसलिए काल का डर भीतर से निकाल दो...
...
जीना शुरू करो औरों के लिए
अपने निरालेपन का डंका पीटना हवा से पंजा लड़ाना है

औरों की मृत्यु मरना
यही सही ढंग है क्लेश कम करने का
राग ही आग आंसुओं से बुझाने का...

कवि बुद्ध के ज्ञान के सार तत्त्वों को एक-एक कर कविता में रखता जाता है। बुद्ध कहते हैं—'इच्छा' के नाग का फन पकड़ो। बचो अतिरेक-व्यतिरेक से। सभी तो स्वार्थी हैं, इसीलिए शील और अहिंसा अपरिहार्य हैं। एक-दूसरे पर भरोसा ज़रूरी है।

इस तरह सोचो
तुम्हारा कौपीन भी
किसी बुनकर के हाथ का पसीना है
तुम्हारे खड़ाऊं भी किसी पेड़ के दिल में धड़कते
छिपे बैठे थे
और यह ध्यान करने की चटाई
पता नहीं किन बूढ़ी आंखों ने
दिये की लौ तले बनाई थी...

काल का शाश्वत जीवंत अभिलेखागार अर्थात् अश्वत्थामा ही वह प्राणतत्त्व है जो महानतम योद्धाओं, रणनीतिकारों, संतों, विचारकों, ज्ञान-पुरुषों के उत्थान-पतन की नज़दीक से देखता रहा है। अब वह चौदह सौ वर्षों बाद महाहेश्वर में है। युग मंडन मिश्र और शंकर का है। कर्मकांडी एक लंबी बहस चली जिसमें विजयी हुए आदि-शंकर। उनका सोचना था कि जो दृश्यमान जगत है, वह मिथ्या है, विराट ही सत्य और भास्वर है, यदि कुछ पाना ही है तो वह है अविनाशी अक्षर। इस पर विपरीत राय रखने वाली, शंकर के प्रथम शिष्य सुरेश्वराचार्य की पत्नी भारती ने शंकराचार्य को अपने तर्कों से ललकारते हुए पूछा—

तुम हाथीदांत की मीनार में बैठे

इस पूरी सृष्टि को
झूठा कहने वाले कौन हो?
शपथ लो कि तुम नहीं जनमे थे मां की कोख से
...
शपथ लो कि तुम अनासक्त हो
भूख और प्यास के दुर्निवार जाल से
शपथ लो कि तुमने निद्रा का
दाह संस्कार कर डाला?

वह एक के बाद एक सवाल खड़े करती जाती है। वह पूछती–क्या अर्थ होता रजस्वला होने का...सुहागरात का मतलब क्या होता है...सहवास में गुंथे दो बदन क्यों बेसुध/बेख़बर होते हैं...? फिर शंकर के अद्वैतवाद की खिल्ली उड़ाती हुई कहती है–

...वहां जो विस्फोट होता गर्भलोक में
तुम्हारा अद्वैत पहले पहल
वहां घटित होता
बंद हो जाता द्वार...
सृष्टि फलवती होने के उपक्रम में
रचने लग जाती नई काया, नया रूप
माया का फटा ढोल यहीं फेंककर
ओ अधकचरे आचार्य!
पहले मंजीरा तो बजाना सीख आओ
रतिरानी का...

कृष्ण, बुद्ध, शंकर, कबीर के
अंतर्मन में झांक लिया
भरसक दिव्य पक्ष सबका
सच कैसे कहूं कि आंक लिया
साक्षी बनकर झेला हर खेला
सबका अनकिया किया
ऐसा जला कि जलता ही जा रहा
यह प्राण दिया...

अश्वत्थामा व्यथा से भरा है। पांच हज़ार वर्षों का रक्तपात, महानतम विचार-दर्शन और एक से बढ़कर एक दार्शनिक, संत-महात्मा, कवि-कलाकार-विचारक उसने देखे मगर लहू की आंधियां थमी कभी नहीं। अब वह 21वीं सदी का कालापन देख रहा है। वह कहता है कि पहले मैं समझता था कि खुद को जलाकर जो अमोघ अस्त्र मैंने वरदान में पाया था, अब बिलकुल वैसा ही विश्व की सत्ताओं के पास है। हर घर युद्ध-शिविर है। सब एक दूजे को शक की निगाह से देखते हैं। विकास के मकड़जाल में फंसा आदमी मधुमक्खी जैसा हो चला। पृथ्वी और अंतरिक्ष में कूड़ा-कचरा-मलबा-कार्बन पट रहा है। मीडिया और अख़बार, व्यापार की संड़ाध में गिजगिजाते हैं। ख़रीदारों का युग है। मॉल सजे हैं।

...बोल खरीददार क्या खरीदेगा?
एक षोडशी के अधखुले उरोज
बिना होठ खोले रसभरी धमकी दोहराते
जो पृथ्वी पर जन्मा है, खरीददार है
कुछ न कुछ का उपभोक्ता
नहीं भोगता जो, अभागा है...

अश्वत्थामा संताप में सोचे जा रहा है कि अब विश्व पर यंत्र दैत्य हावी है। आदमी लोभ-लालच की अंधी, स्वर्णिम दौड़ में शामिल है। सत्ताओं ने प्राकृतिक संसाधनों का इतना दोहन कर दिया है कि स्वयं मनुष्य, पशु-पक्षी और वनस्पति-जगत सब ख़तरे में हैं। प्राणवायु दूषित हो गई। आपसी संबंध दरक गए। अब सब कुछ पूंजी की गिरफ़्त में है।

क्या-क्या बर्बरता नहीं हुई
शाक, वनस्पतियों या कि इतर जीवों के साथ
इन सबकी समवेत पीड़ा का
कम ज़िक्र मिलता है विश्वकोश में
जबकि प्रकृति के चक्रवर्ती साम्राज्य में
अब तो हर कोई भूमिका विहीन है

यद्यपि कवि ने इस पर ज़ोर दिया है कि स्थिति भयावह होने के बावजूद आस अभी बची है। वह कहता भी है–

शेष बचे पक्षी
बुनते ही रहते हैं नीड़
मोर पपीहे अब भी गा ही लेते हैं
बावजूद क्लेश देहदाह के
होते ही रहते हैं स्वयंवर
मीठी किलकारियां
सुन पड़ती यहां-वहां
रतजगा होता है
तमाम व्यवधानों के बीच...

लेकिन दुख, क्लेश, हताशा और हज़ारों वर्षों की डूबी-सी त्रासद और अभिशप्त ज़िन्दगी जीते-जीते अश्वत्थामा पूरी तरह निराश है और कहता है–

सिर्फ़ प्रार्थना भर
की जा सकती है इस दुर्मद काल में कोई
अनाम पराचेतना आए
झकझोर कर हमें
जगा दे गहरी नींद से...

मैंने कविवर कैलाश वाजपेयी से कई बार इस अप्रतिम प्रबंध रचना पर चर्चा की और कई न समझ में आ रहीं गुत्थियों के बारे में भी जाना। जैसे मैंने पूछा कि वह 'पराचेतना' क्या है? उन्होंने कहा–हर पाठक अपना अनुमान लगाने के लिए स्वतंत्र है क्योंकि अवतारों और साधकों की गति तो देख ही ली गई। तब मैंने कहा कि क्या वह पराचेतना, वह करोड़ों करोड़ जनता नहीं जिसने पृथ्वी के कई गलित भूखंडों को अतिचारियों के चंगुल से मुक्त कराया है और अभी भी मुक्तिसंग्राम में जुटी है। कवि ने कहा– सर्वोत्तम विचार तो यही है, जो कि सच भी है।

इस, अनेक छंदों और गीतों, गीतात्मकताओं, कथानकों, जातक-कथाओं, संवादों-परिसंवादों-एकांत कथनों, आख्यानों, नाट्यबंधों, मिथों, यथार्थों, इतिहासों, कल्पनालोकों, नाटकीय विशिष्टताओं और संगीत-तत्वों से भरपूर, अभिनव शिल्प और नवीन प्रयोगों तथा कतई कैलाश वाजपेयी भाषा-शैली-बुनावट में विन्यस्त, प्रबंध काव्य में वे सब तत्व हैं जो तुलसी की कृति रामचरितमानस में है, 'गीता' में हैं, वैदिक ऋचाओं में हैं और कार्ल मार्क्स की कृति 'दास कैपिटल' में हैं। कुछ भी हो गया हो उलट-पुलट, कैलाश जी में तो हमें कबीर दास भी धड़कते नज़र आए। इस कृति के अनेक अंश ज़बान पर चढ़ जाने वाले हैं और अनेक ऐसे भी, जो मुझ जैसे पाठक के हृदय में स्थायी निवास करते हैं। इस कृति के कई गीत कोई भी सहज ढंग से गा सकता है और उन्हें संगीतबद्ध किया जा सकता है। यक़ीनन **'डूबा-सा अनडूबा तारा'** पिछले समय, अपने समय और आगे के समय की बेजोड़ रचना है।

डूबा-सा अनडूबा तारा/कैलाश वाजपेयी/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, ₹ 170

159, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज़-1, दिल्ली-110091, मो. 09868240906

कविताओं में जीवन और जीवन में कविताएं

पुखराज जाँगिड़

चंद्रकांत देवताले देसी राग-रंग और जीवन से भरे पठारी-खुरदरेपन और सौंदर्यबोध के कवि हैं। पठार और पठारी जीवनबोध उनकी ऊर्जस्वित-चेतना का शक्तिपुंज है तथा उनकी अदम्य जिजीविषा का केंद्रीय-स्रोत भी। प्रतिरोध और संघर्ष को वे वक़्त की अनिवार्य शर्त मानते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि *''निमंत्रण देने से नहीं आएगी रोटी/फंसी रहेगी डांगियां आंखों की किचड़ में/प्रसन्न राग नहीं छोड़ेगा इकतारा/आपसे बात हमारी बस्ती में।''* (पृ. 7) उनकी कविताओं में 'रोटी' और 'संघर्ष' एक-दूसरे के पर्याय हैं। अपमान, अवज्ञा और झूठ के खेल में इंसान और इंसानियत जैसे कहीं खो सी गई है। उनके लिए उनकी कविताएं, कविता की परिभाषा,उसकी समकालीनता या उसकी प्रासंगिता अमानवीय होते मानव को पुनः मानव बनाने में है।– *''जबड़े जो आदमी के मांस में/गड़ा रहे हैं दांत/यदि उन पर चोट होती है कविता/तो मैं कविता का अहसानमंद हूं।''* (पृ. 7) यानी कविताओं में जीवन और जीवन में कविताएं, यही उनकी सृजन-प्रक्रिया का मूल उत्स है। महत्त्वपूर्ण यह है कि आप अपनी परंपरा या विरासत की सीपी से क्या हासिल करते है, उससे अर्जित ज्ञान को किस तरह संजोते हैं। चंद्रकांत देवताले 'धरती पर नाचती दरद दिवानी मीरा' की तन्मयता को पत्थर तोड़ने, अन्न उगाने वाले 'अपनों' से जोड़ते हैं। यह परंपरा का सार्थक मिलन है और पुनर्मूल्यांकन की सही दृष्टि भी। दरअसल उनकी कविताएं हाशिए की अस्मिताओं के साथ खड़ी जनसरोकारी कविताएं हैं। इन्हें हाशिए की अस्मिताओं का कविताई इतिहास भी कहा जा सकता है।

वरिष्ठ कवि चंद्रकांत देवताले का नया कविता संग्रह 'आकाश की जात बता भइया' जिसमें उनकी 42 कविताएं संकलित है, आम-पाठक को समर्पित है। समर्पण में उन्होंने लिखा है कि 'उन सबको जिनके हाथों में है यह पुस्तक और जो मौजूद हैं इन कविताओं में...और उनको भी जिन तक पहुँचने को विकल मेरी आवाज...यानी पाठक, वर्तमान और संभावनाओं का भविष्य, तीनों को एक साथ साधना, मनुष्यता के वृहत्तर स्वप्न को संजोना-जीना और उसमें विश्वास करना है।

बहरहाल 'खटाक से खुलते चाकू की तरह' शीर्षकीय-भूमिका में चंद्रकांत देवताले ने अपनी काव्य-यात्रा (1973-2010) को अपनी ही नौ चुनिंदा काव्य-पंक्तियों में पिरोया है। इन्हें उनकी संवेदना के विकास की नौ कविताई सीढ़ियां माना जा सकता है। जो स्पष्टतः कहती-बतलाती है कि 'मुखौटे खरीदती भद्रजनों' की भीड़ में 'भले लोग रात की छाती में सिर छिपा रहे' है और 'कुत्ते गुर्रा रहे/और अलंकृत वाणी में छप रही उनकी गुर्राहट' (पृ. 37) वाला *''यह वक़्त वक़्त नहीं/एक मुकदमा है या तो गवाही दो/या हो जाओ गूंगे/हमेशा-हमेशा के वास्ते...''* (पृ. 8)। खुशामदी-दोमुहँपन उन्हें कतई स्वीकार नहीं, न कविता में न जीवन में। बिना किसी लाग-लपेट का दोटूकपन-बेबाकपन उनकी कविताओं और जीवन की विशेषता है। वे स्पष्ट कहते हैं *''ऐसे जिंदा रहने से नफरत है मुझे/जिसमें हर कोई आए और मुझे अच्छा कहे/मैं हर किसी की तारीफ करते भटकता रहूं/मेरे दुश्मन न हों/और इसे मैं अपने हक में सबसे बड़ी बात मानूं...''* (पृ. 8) या *''सोचता बैठा हूं/थके हुए पत्थर की तरह/क्या हमारा समय पहुंच गया है/उस कगार तक/कि दस किलो जुआर के लिए/बाप इस तरह दांव पर लगा दे अपनी बेटी।''* (पृ. 65)। उनकी कविताएं 'लस्तपस्त मुर्दनी' की कविताएं नहीं हैं वरन् वह बताती हैं कि व्यवस्था की दोमुंही क्रूरता में भूखा-प्यासा-जन 'ज्ञान नहीं पाया गुणगान के/हथियार से हुई उसकी मौत' (पृ. 93)। 'विशेषणों का सांड युद्ध' की इन पंक्तियों के साथ 'थोड़ी-सी दिक्कत थी हम दोनों के बीच', 'ठंडी पड़ गई आग', 'थोड़े से बच्चे और बाकी बच्चे', 'प्याज के विषय में' और 'पत्थर फेंक रहा हूं' की कविताएं भी आलोचनात्मक-विवेक की कविताएं हैं। उनकी नापसंदगी की सूची में *''शामिल इसी में मेरे दुश्मन/चापलूसी करने वाले केंचुए/आत्मा और सार्वजनिक फसलों के चोर/तस्कर, धंधेबाज, ईश्वर, भूख या बेबसी के/हरामखोर आत्मा ने जिनको कभी नहीं धिक्कारा...।''* (पृ. 7)

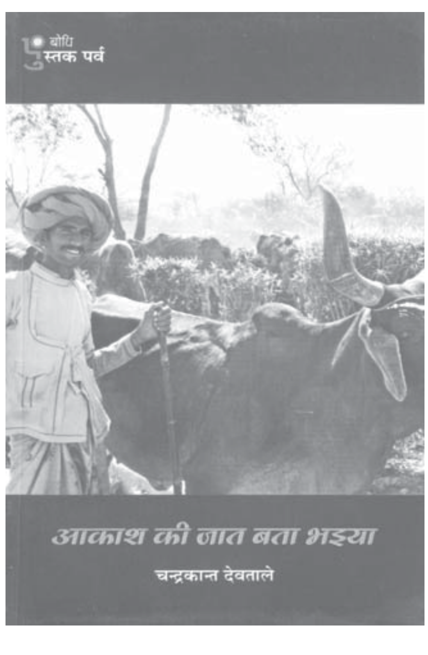

चंद्रकांत देवताले की कविताएं समकालीन कविता का प्रतिनिधित्व करती हैं, सामाजिक यथार्थ से सीधी मुठभेड़ करती है

और प्रचलित सौंदर्यबोध के उलट नए सौंदर्यशास्त्र का निर्माण कर उसे नई-भाषा और नया-शिल्प प्रदान करती है और बताती है कि 'भूख से पैदा हो सकता है एक मुकदमा'। भाषा-शिल्प और संवेदना के तीनों स्तरों पर रेगिस्तान के बंजरपन और पठार के सूनेपन को एकसाथ साधती उनकी कविताएं 'अन्न के दाने के भीतर छिपे/अंधेरे के भय की परछाईं', 'बालवृंदों के समक्ष कुछ चारे जैसा डाल रे', शिक्षकगण, 'लोगों के पैरों में पड़ी असंख्य दरारों', 'अमराई के नीचे का कुंए का ठंडा पानी', 'आंसू पोंछता बिज्जु मामा का गमछा', 'बच्चों की मासूमियत में छिपी सच्चाई, 'अंधेरी दिशाओं में डगमग आगे बढ़ते/रोशनी के पदचिह्नों को/उमंग और उम्मीदों से निहारते' लोगों, 'मेमनों की तरह दयनीय चेहरों', 'दीवारों पर गालियां लिखते और बीड़ी के अद्धे ढूंढते बच्चों' में भविष्य खोजती है। उनकी नजर में 'सोए हुए बच्चे तो नन्हें फरिश्ते ही होते हैं' और 'सोई स्त्रियों के चेहरों' पर 'थके संगीत का विश्राम' देखा-पढ़ा-समझा जा सकता है। एक तरफ 'वक़्त के शिकायती पहाड़ खोदता, भीगे लबादों की तरह भारी हमारा दुःख' है तो दूसरी ओर भूमंडलीय बाजार जिसमें परिवर्तन और जीवन एक-दूसरे के पर्याय बन चुके हैं, बावजूद इसके उनके सरोकार 'लोक' (गांव-गुवाडथ्) और 'जन' (सामान्य-मध्यवर्ग) से जुड़े हैं। रोजमर्रा की मांगादेही का एक दृश्य– *'वहां मांगा-देही का रिवाज नहीं/समझाया था पहले ही/फिर भी तुम बाज नहीं आए/आदत से अपनी/वहां इंदौर में नींबू मांगकर तुमने/यहां उज्जैन में मेरी नाक ही कटवा दी'* (पृ. 89) पर यह कितना *'अजीब लगता है कि घरू जरूरतों के मामले में/सबके सब आत्मनिर्भर और बढ़िया प्रबंधक हो गए हैं'* (पृ. 87)।

रोजमर्रा के जीवनानुभवों का रचनात्मक-संस्पर्श इनमें देखने की बात है। तिस पर कभी न टूटने वाली निरंतरता माने अंतःस्फूर्त चेतना का काव्यात्मक प्रस्फुटन– *'और उनके हाथों की चमड़ी/हाथी और पांव का साथ छोड़ रही है।'* जैसे कविता और जीवन एक-दूसरे में रस-बस गए हैं। इनमें परिवेशगत-यथार्थ का जीवंत रूप अपने खुरदरेपन के साथ हर कहीं मौजूद हैं। चंद्रकांत देवताले की कविताएं हमें चैन से जीने नहीं देती। भद्रवर्ग की अवधारणा ही यहां आपको उलटी मिलेगी– *'उन फीतों को मैं कूड़ेदान में फेंक चुका हूं/जिनसे भद्रलोग जिंदगी और कविता की नापजोख करते हैं।'* यथार्थवादी दृश्य-बिंब उन्हें किताबों से इतर जीवन-संग्राम का कवि बनाते हैं। यह इसलिए भी सुखदायी है क्योंकि इस बहाने कविताओं में वास्तविक भारतीय-लोकजीवन की वापसी हुई है। दरअसल यह समय कविता में लोकजीवन के उभार का है, नींबू, ककड़ी और प्याज (कांदा) पर कविताओं पर घट्टी-पसीना, जीमना, धनी-धोरी, पहुनचारी, अबूझमाड़, बागड़, साइत, उमच जैसे ठेठ लोक शब्दों की वापसी का है। आखिर कब तक हम नकलची दुनिया के गुण गाएंगे जबकि *''नाम मेरे लिए पेड़ से टूटा एक पत्ता/हवा उसकी परवाह करे/मेरे भीतर गढ़ी दूसरी ही चीजें/पृथ्वी की गंध और/पुरखों की अस्थियां उनकी आंखों समेत/मेरे मस्तिष्क में तैनात/संकेत नक्षत्रों के बताते जो नहीं की जा सकती सपनों की हत्या...''* (पृ. 7)। कविता की लोकधर्मिता या लोकजीवन की अनुभव-व्यापकता में ऊपजे सामाजिक-यथार्थ को सहज-संप्रेषणीय कविताई-शिल्प देना उनकी विशेषता है। उनकी कविताएं समूहबोध की कविताएं हैं इसलिए संवाद चाहती है और कविता की सार्थकता/प्रासंगिकता पर बात करती है *''जबड़े जो आदमी के मांस में/गड़ा रहे हैं दांत/यदि उन पर चोट होती है कविता/तो मैं कविता का अहसानमंद हूं।''* (पृ. 7) तिसपर कविता, कविता की भाषा-शिल्प-सरोकार किसके लिए *''यदि मेरी कविता साधारण है/तो साधारण लोगों के लिए भी/इसमें बुरा क्या, मैं कौन ख़ास...।''* (पृ. 11) उनकी कविता और कविताई सरोकार किसके लिए है, यहाँ स्पष्ट है।

'चुप्पी में दहकती भट्टियों' और 'खयालों में खदबदाते ज्वालामुखी', 'जनपद के जीवन की घास पचाता' लोक और 'गडरिए की तरह हांकते शब्दों' की अदम्य-जिजीविषा, जीवनगत-जटिलताओं और विडंबनाओं को उकेरता, समकालीनता को जीता, जनोन्मुखता और कलात्मकता का अनगढ़ा लेकिन गढ़ा सहज-शिल्प प्रभावित करता है। 'रात की छाती में सिर छुपाती कविताएं' जैसे मानवीय- संबंध और उनकी गंध हर कहीं मौजूद है जिनके रूपक कवि ने प्रकृति और जीवन से उठाए है जो कि अलौकिक-अमूर्त नहीं वरन लौकिक-मूर्त और जमीनी है। उसी तरह *'जो आदिवासी बच्चों के नसीब में होना होता बाघ-बच्चों जैसा/तो इनका नंबर भी आता/ ...इनका भी तो कोई धनी-धोरी होना चाहिए महाराज'* (पृ. 94)। ऐसे विकट समय में *'धरती को बांझ बनाने की साजिशों को सूंघ.../रंभाती गाएं.../धरती की दीवारों से झांकती अनगिनत आंखें/पर बछड़ों का विकल हरेना'* (पृ. 96) कवि के लिए 'जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है'। उनकी सबसे बड़ी चिंता भी यही है कि *'अंधेरी की आग में कबसे/जल रही है भूख/फिर भी नहीं उबल रहा/गुस्से का समुद्र.../कब? कब?? समझ में आएगा/धुंआती धरती का विलाप?', 'कब तक?.../विभिन्न भाषाओं और हथियारों से/हत्यारे करते रहेंगे आदमियत का रक्तरंजित अनुवाद'* और *'हम सुनते-पढ़ते-लिखते रहेंगे/स्वतंत्रता की परिभाषा'* (पृ. 86) *हमारे पत्थर के देवताओं-आकाओं की नजर में सच बोलने वाली 'ये नहीं है जनता...फर्जी लोग.../विरोधी पार्टी के भाड़े पर...'* यानी *'लिखूंगा यह दुनिया का सबसे/ बड़ा चमकदार लोकतंत्र है/जिसमें सिर्फ़ जनता ही का नामोनिशान नहीं'* (पृ. 85)। उनकी कविताएं इसकी शिनाख्त करती है और स्पष्ट कहती है कि *''मैं समुद्र से बहुत दूर/आदमियों के उस भूखंड पर जिंदा हूं/जहां लोगों ने समुद्र का चिंघाड़ना कभी नहीं जाना/समुद्र के फेन में दांत की तरह टूटते हुए घर/बहते हुए ढोर-डंगर और स्त्री-पुरुषों की देह का/हाहाकार किसी ने नहीं देखा.''* (पृ. 14)। दरअसल उनकी कविताएं दोगली व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रूख अख्तियार कर लेती है और उनकी चिंता का केंद्र बिजली के तार पर 'फ़क़त भयभीत चिड़ियों-सी' देखती, ग्राहक के इंतजार में बैठी 'बालम ककड़ी बेचने वाली लड़कियां' हैं– *''सोचता हूं बैठी रह सकेंगी क्या/ये अंतिम ककड़ी बिकने तक भी/ये भेड़ों-सी खदेड़ी जाएंगी/थोड़ा-सा दिन ढलने के बाद/फूकट में ले जाएगा ककड़ी/संतरी एक से एक नहीं/सातों से एक-एक कुल सात/फिर पहुंचा देगा कहीं-कहीं कुल पांच/बीवी खायगी/थानेदार की हंसते हुए ककड़ी/छोटे थानेदार खुद काटेंगे/फूकट की ककड़ी/कितना रौब गांठेगी/घर-भर में/अड़ोस-पड़ोस तक/महकेगा सैलाना की ककड़ी का स्वाद/याद नहीं आयंगी।किसी को लड़कियां सात/कित्ते अंधेरे उठी होंगी/चली होंगी कितने कोस/ये ही ककड़ियां पहुंचती होंगी/संभाग से*

भी आगे राजधानी तक भूपाल' (पृ. 49-49)। विविध आयामी सत्ता का पूरा विमर्श भरा पड़ा है इन पंक्तियों में। हालांकि ये लड़कियां भी उनकी लंबी कविताओं 'उसके सपने' और 'भूखंड तप रहा है' की तरह जानती हैं कि *'जहर की गांठ कहां है/यद्यपि उसने नहीं जाना शेर के मूंछ के बाल का जहर'* और यह भी की *'नहीं बताएगा वैसा भाट पुराण/वंशावली का ब्यौरा हर किसी को/कि पूर्वज तुम्हारा राजा था गोंडों की बस्ती का'*।

भाषायी संप्रेषणीयता-सामाजिकता-व्यावहारिकता के प्रति कनकटिया-चौकन्नापन, दोटूक बेबाकपन और जमीनी रचनात्मक-ऊर्जस्विता उन्हें समकालीनों से अलग करती है। यानी जितने पाठक उतने जीवनानुभवी अर्थ। कविता उनके लिए बेहतर जीवन के लिए किया सततप्रवाही-संवाद है। 'फिलवक़्त इतना ही' कविता हमारे 'पत्थर के देवताओं' (तथाकथित राष्ट्र-निर्माताओं) को संबोधित है *'सावधान! चरित्र के शो-रूम/और खासकर तहखाने के मामले में/कोई बेजा तहलका-तूफान न उठ जाए बेवक़्त'*। वे कविताओं में जीवन की सहजता को समग्रता में गुंथते हैं और ये कविताओं में उनकी आगध-आस्था ही है जिनमें सामान्य जन-जीवन विस्तार पाता है, पुष्पित-पल्लवित होता है। वे हिंदी के एकमात्र कवि हैं। जिन्होंने मजदूर-किसान के साथ-साथ स्त्री-दलित-आदिवासी अस्मिताओं से खुद को फैशन या सैद्धांतिक बहस के लिए नहीं वरन जीने-मरने के प्रश्न के रूप में रचनात्मक-स्तर पर जिया है। उनकी कविताओं की आस्वादन-प्रक्रिया में एक बेहतर दुनिया की तलाश का 'विजन' संगुफित है। यह उनकी कविताओं की ताकत ही है जो अनायास हमें अपनी ओर खींचती है और उनके पठन-पाठन के साथ हम भी उसी विजन के हमराही बनते चले जाते हैं। सिनेमाई भाषा में कहूं तो *'जीवन से भरी तेरी कविताएं, मजबूर करे जीने के लिए...'*।

आकाश की जात बता भइया/ चंद्रकांत देवताले/ बोधि प्रकाशन, एफ-77, सेक्टर-9, रोड नं. 11, करतारपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-3062006 / ₹ 10

204, एक्सटेंशन, ब्रह्मपुत्र छात्रावास, पूर्वांचल, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, मो. 09968636833

कविता की नई जमीन की तलाश

माधवेंद्र

समकालीन साहित्यिक दौर में कविता की चर्चा करना अपने आपको मुश्किल में डालना है। कविता जीवन की वह परंपरा है जो तमाम मुश्किल दौरों से मनुष्य को बाहर निकालती रही है और आज भी उसके मन की सबसे सही तस्वीर देती है। कविता आदमी को संभालती है जिससे होकर सभ्यता की राह निकलती है। परंतु ये बातें कविता के लिए सच हैं, कविता के नाम पर भ्रम पैदा करने वाली साहित्यिक कलाबाजियों के लिए नहीं।

आज हिंदी में कविता के नाम पर जितना कुछ लिखा जा रहा है, उनमें से अधिकांश कविता होने का भ्रम देती हैं, कविता होती नहीं। एक कवितानुमा पैटर्न, खास जुमलेबाजी और कुछ चौंकाने की अदा। कविता भाषा से मुक्त होती हुई ऐसी अभिव्यक्ति होती है जो आप के अंदर काम करती है। वह संवेदना की ऐसी टीस है जो मन में नासूर की तरह धंस जाती है और तब तक मथती रहती है, जब तक आप शुद्ध न हो जाएं। कविता लय, छंद, ताल सबसे मुक्त होती है। वह इन सबमें हो भी सकती है और नहीं भी। ऐसे में कविता को खोजना एवं उसकी सही पहचान मुश्किल लगता है। आज जबकि कविता-लेखन में कम-से-कम तीन पीढ़ियां सक्रिय हैं, सबके अपने रंग-ढंग हैं, कविता को नई आवाजों से बल मिला है। नए कवियों की कविताओं से यह विश्वास बढ़ा है कि हिंदी में कविता के नाम पर सब कुछ यूं ही नहीं चलेगा।

दिविक रमेश हिंदी कविता में एक चर्चित नाम हैं और 'गेहूं घर आया है' को देखकर लगा, गेहू नहीं, कवि घर आया है और अपनी संवेदनाओं एवं अनुभूतियों को फिर से सहेजने की कोशिश कर रहा है। रमेश दिविक आज के दौर के ऐसे कवि हैं जिन्होंने कविता में अपने को ही नहीं, अपने समय एवं समाज को भी खोजने की कोशिश की है। संवेदना की डोर से पूरे परिवेश को बांध लेने की एक तीव्र ललक यहां देखी जा सकती है। परंतु यह 'कविता के लिए खतरनाक' समय ही कहा जाएगा कि कवि को अपनी कविता से अधिक उन समीक्षाओं पर विश्वास है जो दो बड़ी हस्तियों से लिखवाए गए हैं और संग्रह के प्रारंभ में दिए गए हैं। कवि को महसूस होता है कि शायद वह इन समीक्षाओं के बड़े नामों पर सवार होकर हिंदी के महान कवियों की श्रेणी में शामिल हो जाएगा। अपने 'मेरा कहा' में भी कवि यह बताना नहीं भूलता है कि ये कविताएं यूं ही नहीं हैं बल्कि ''हिंदी के न केवल वरिष्ठ एवं प्रतिष्ठित कवि बल्कि हिंदी के विख्यात

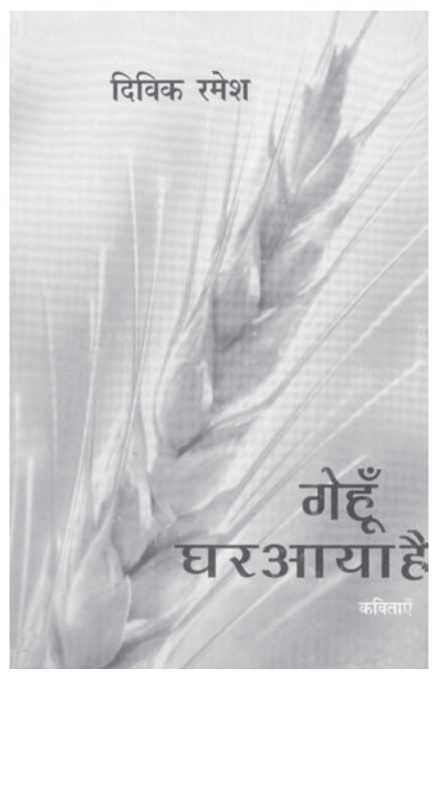

आलोचक एवं चिंतक श्री अशोक वाजपेयी'' द्वारा चयनित हैं। इतना ही नहीं, दूसरे आलोचक कहीं नाराज न हो जाएं, इसके लिए 'पुनश्च' में वे लिखते हैं—''हिंदी के ऐसे विद्वान, कवि, चिंतक एवं दो टूक काव्य-मर्मज्ञ से इतने करीब से पहली बार मिलना मेरे लिए सचमुच एक दुर्लभ अवसर था।'' दुख हुआ कि यह कवि का अपने ऊपर अविश्वास था या अपनी कविताओं पर अथवा पाठकों के प्रति? आखिर इन 'रिकमंडेशनों' की क्या जरूरत थी कि मेरी कविताओं को इन्हीं दो आंखों की सहायता से पढ़ो। वैसे स्थापित होने की दौड़ में यह फायदे का सौदा हो सकता है लेकिन पाठक का अपना पक्ष भी होता है। उसे सीधा साक्षात्कार करने दीजिए कविता से। विश्वास रखिए कि अगर कविता सचमुच है तो वह खुद पहचानी जाएगी, उसके लिए बैसाखियों की जरूरत नहीं। कविता अपना प्रतिमान खुद गढ़ती है। आज का पाठक अधिक सतर्क एवं 'फोकस्ड' (Focused) है। उसे कविता आज पहले से अधिक समझ में आती है, क्योंकि समय पर संकट पहले से अधिक है और 'मनुष्य' को बचाना जरूरी है।

'गेहू घर आया है' संकलन एक तसल्ली देता है कि हिंदी में संवेदनशील कविताओं का दौर अभी थमा नहीं है। कविता लिखी जा रही है और उन कविताओं के माध्यम से मनुष्य की बड़ी कोमल-सी चीज, आत्मीयता, अपनापन को सहेजने की कोशिश की जा रही है। संकलन की अधिकांश कविताएं संवेदना की इसी नामालूम-सी डोर को पकड़कर खड़ी हुई है। 'डोलू', 'अपने साथ के लिए', 'स्मारक एक यह भी', 'चिड़िया का ब्याह', 'सलमा चाची', 'मां', 'पंख', 'तुम्हारा आकाश', 'दांत' आदि कई कविताएं हैं जो सुकून देती हैं और आदमी का आदमी से सही परिचय कराती हैं।

संकलन की कुछ कविताएं बहुत अच्छी हैं। 'तुम्हारा', 'आकाश' अफगानिस्तान की महिलाओं को लेकर लिखी गई है। पूरी कविता में गजब की गति हैं। *'आज आकाश तुम्हारा है/ और यह उड़ान भी/आकाश जिसका मुरीद है।'* लिखकर कवि तमाम बंदिशों में कैद महिलाओं की आंखों का सपना लिखता है, साथ ही कितनी आत्मीयता है इन पंक्तियों में—

'बरसों बाद आज लौटेगा काबुलीवाला,
मेरा दोस्त अपने वतन को,
ठूंस-ठूंसकर भर ली हैं उसने जेबें
शहनाइयों की मिठास से।
खुशियों के जाने कितने जेवरात
उसने रख लिए हैं अपनी आंखों में
बस्तों का एक पूरा हुजूम
उसने संजो लिए हैं जज्बातों में।
उसके हाथों में कलम है
और सभ्यता रचने को
एक बेहतरीन कागज।'

इसी तरह एक कविता है शमशेर को लेकर। हिंदी में ऐसी कविता मुश्किल से मिलेगी जिसे पढ़कर आप किसी अन्य कवि/ रचनाकार को महसूस करने लगे। शमशेर के ही अंदाज में, बारीक एवं खूबसूरत, आंख बंदकर आनंद में डुबो देने वाली कविता—

''छूइए
मगर हौले
कि यह कविता
शमशेर की है।
और यह जो
एक-आध पांखुरी
बिखरी
सी
पड़ी
है
न?
इसे भी न हिलाना।
बहुत मुमकिन है
किसी मूड में
शमशेर ने ही
इसे ऐसे रखा हो।'

कविता में एक महान कवि की अभिव्यक्ति ही नहीं, अनुभूति भी है। केवल स्मृति की औपचारिकता नहीं, बल्कि जीने की ललक भी दिखलाई पड़ती है। शमशेर की नाजुकता से युक्त यह कविता दिविक जी में किसी मजबूत एवं परिपक्व कवि होने की सूचना-सी है। इसी तरह एक कविता के डोलू। एक चंचल बचपने की उल्लसित तस्वीर। घर में एक बच्चा पूरे घर को बच्चा बना देता है। 'गेहूं घर आया है' कविता बनते-बनते रह गई है। गेहूं के घर में आने की व्यंजना से भूख, गरीबी, लाचारी के बाद उल्लास के चित्रण से कविता में सौंदर्य की सृष्टि का तनाव दिखलाई देता है, परंतु वह सौंदर्य घनीभूत न होकर बिखर जाता है। यह बाबा नागार्जुन की कविता—'कई दिनों के बाद' की याद दिलाता है। नागार्जुन के यहां कविता के दोनों वह तनाव को इतना घनीभूत करते हैं कि चूहे, छिपकली, कौवे तक की भूख एवं प्रसन्नता कविता में शामिल दिखलाई देने लगती है। दिविक जी ने भी चकला-बेलन, सिलबट्टा आदि के माध्यम से बात कहनी तो चाही है, लेकिन पूरी संवेदना उभर नहीं पाती है।

पूरे संकलन में एक हड़बड़ी-सी है, जिसमें कविताएं किसी मुकम्मिल एवं गंभीर बात कहने के बजाय औपचारिकता के निर्वाह की कोशिश में दिखलाई देती है। कवि आधुनिक समय के खतरे से बेचैन कम, उसे प्रदर्शित करने की चेष्टा में अधिक लगा है। इसीलिए कविता प्रश्न तो उठाती है, परंतु उसे पाठक के मन में ठीक से रोप नहीं पाती। इसके लिए भाषा में जितनी शक्ति एवं गंभीरता होनी चाहिए, वह कम लगती है। साथ ही यह बात मन को चिंतित करती है कि समस्याओं को पीड़ा की तरह नहीं, मनोरंजन की तरह प्रस्तुत किया गया है। संकलन की पहली कविता 'अदृश्य होते हुए' में कविता ही अदृश्य हो गई है। यहां यह कहा जा सकता है इस संकलन की अधिकांश कविताएं एक बुद्धिमान आदमी की सतर्क कविताएं हैं। विषय का चयन तो सही करते हैं लेकिन बेहद चौकन्नेपन में कविता को सीधे हृदय से नहीं बहने देते। कहीं-कहीं शब्दों की असहज ठूंस कविता को नाकाम बना देती है। इसी तरह कम-से-कम दस ऐसी कविताएं हैं जो भरती के लिए संकलन में डाल दी गई हैं। 'आग को जब प्यार कहा गया' दांत, राहों के बाहर, नीला ही नीला, आदि कविताओं को इस रूप में देखा जा सकता है। दुःख होता है यह देखकर कि कविता तमाशा-सी बन गई है। जिस जादूगरी की चर्चा कवि खुद कर रहा है— *''कविता ही तो है/जब चाहा लिख देंगे/जब चाहा उड़ लेंगे/जाल भी अपना है/कबूतर भी अपने हैं''* खुद उसी का शिकार हो गया।

समकालीन कविता की बड़ी समस्या संप्रेषीयता की है, यद्यपि अक्सर कवि इससे जूझता दिखलाई देता है लेकिन जब और जहां वह इससे मुक्त हुआ है कविता उभर

आई है। संप्रेषणीयता भाषा का गुण है। भाषा पाठक को दिशा दिखलाने का कार्य करती है कि कवि की अनुभूति की भूमि इस तरफ है। भाषा सब कुछ नहीं कहती। आनंदवर्धन ने जिस 'प्रतीयमान' को सर्वश्रेष्ठ काव्य के रूप में व्याख्यायित किया है, वह भाषा की सजीवता की पहली पहचान है। आज की कविता भाषा के सही प्रयोग से जूझती कविता है। कवि को लगता है कि वह बड़ी बात कह रहा है, जरूरी बात कह रहा है, परंतु भाषा में सही एवं सटीक प्रयोग न हो पाने के कारण पाठक तक उसकी बात पूरी शिद्दत के साथ नहीं पहुंच पाती। वस्तुतः काव्य में छंद के टूटने के साथ जिस 'अर्थ के लय' की बात कही गई, उसने कविता को अत्यधिक जटिल कर दिया। पहले कमजोर कविता भी छंद के लय पर सवार होकर चल जाती थी, अब यह काम उसे सिर्फ 'अर्थ की लय' के साथ करना है, जो खासा मुश्किल है।

दिविक रमेश अपने इस संकलन में भाषा को ढूंढते हुए दिखलाई देते है। जो एक संवेदनशील कवि के लिए आवश्यक है। इसीलिए भले ही कुछ कविता पूरी तरह आपको प्रभावित न करें, परंतु कुछ पंक्तियां तो आपको अवश्य ऐसी मिलेंगी, जो 'आपकी संवेदना के तारों को झंकृत कर दें। कुल मिलाकर कहा जाए तो 'गेहूं घर आया है' संकलन पठनीय संकलन है। इसमें यद्यपि शहर हावी है और गांव-गिराव या प्रकृति स्मृति मूलक, परंतु अपनी सहज एवं सरल अभिव्यक्ति के बल पर यह संकलन मन में राह बनाती है। अंत में इस संकलन के बारे में कहा जासकता है कि—

'दरवाजा खुला हो
तो, जरूरी नहीं
अंधड़, तूफान ही
घुस आए घर में
खूबसूरत पंख भी तो
आ सकता है
उड़कर।'

गेहूं घर आया है/दिविक रमेश/ किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, ₹ 175

हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022, मो. 09436163149

अंधकार की कविताएं

विजेन्द्र नारायण सिंह

इस नए कविता संग्रह में उपेन्द्र कुमार की छह लंबी कविताएं संकलित हैं। इन छह कविताओं में एक 'सत्तू' शीर्षक कविता को छोड़कर शेष सभी कविताएं किसी ऐतिहासिक, पौराणिक, मिथकीय या कल्पित कहानी पर आधारित हैं। सभी कथा-कविताओं में इतिहास, पुराण या मिथक को वर्तमान संदर्भ पर ऊर्ध्वपातित किया गया है। यानी इन कविताओं का समकालीनता से तारतम्य है। उपेन्द्र कुमार के कवि-कर्म की चरितार्थता इसी तथ्य में निहित है।

'सोनमती' नारीवाद की कविता है। 1980 ई. के बाद हिंदी में जो उग्र नारीवाद आया है वह महिला की आर्थिक स्वाधीनता और यौन स्वाधीनता को केंद्र में रखकर चला है। इस कविता का नारीवाद पारंपरिक समाज के व्यवहार में नारीवाद के पाठ को प्रस्तुत करता है। यह कविता-कथा भृगु पंडित की पत्नी सोनमती की है जो मंदिर की व्यासपीठ पर बैठकर 'रामचरितमानस' का पाठ करती है और हवन आदि कर कर्मकांड संपन्न करती है। नारीवाद का यह पाठ हिंदी के महिला कथाकारों से भिन्न भूमि पर प्रस्तुत है और कवि की रचनात्मकता की मौलिक दिशा को रेखांकित करता है।

'सोनमती' यदि उत्पाद्यवृत्त पर आधारित कथा-कविता है तो 'गहन है यह अंधकारा' इतिहास-प्रसिद्ध ख्यातवृत्त पर आधारित कथा-कविता है। दोनों का प्रतिपाद्य है जड़ ब्राह्मणवाद के कुसंस्कारों की कठोर भर्त्सना। इसमें विट्ठल पंत और उनके बेटे ज्ञानदेव के साथ गांव के ब्राह्मणों ने जो अमानुषिक व्यवहार किया, उसकी कथा है। यह मध्यकाल की तेरहवीं सदी का प्रसंग है। उनके गांव के ब्राह्मणों ने संन्यास छोड़कर गार्हस्थ्य अपनाने के लिए विट्ठल पंत और उनकी पत्नी रूक्मिणी को मृत्युदंड दिया और उन्होंने इसे दंड का पालन करने हेतु प्रयाग में संगम पर जाकर जल समाधि ले ली। बाद में उनकी परम पवित्र और ज्ञानी संतान को उन्होंने विवाह करने से वंचित रखा। प्रगति विरोधी जड़ ब्राह्मणी राक्षसी परंपरा की क्रिटिक यह कविता प्रस्तुत करती है। कवि मध्यकालीन पंचायत की जड़ता में समकालीन पंचायत की जड़ता का सादृश्य दीखाता है। दोनों की जड़ता और दोनों से उत्पन्न यातनाएं सामानांतर हैं। सार यह कि—

अंध श्रद्धा पोषित परंपरा जीवनधर्म बन
गई है
जड़ परंपरा प्रगतिविरोधी होती है
वह इनसानों को खेमों में बांटती है
सब कुछ को काटती-छांटती

अपने सांचे में ढालती हैं।

यह देवासुर संग्राम है जहां चेतना जड़ता से जूझ रही है। रूढ़ि जड़ता है जो प्रगति यानी चेतना को कमजोर करती है। इसी कविता की पूरक है 'सोनमती'। ख्यातवृत्त और उत्पाद्यवृत्त एक ही बिंदु पर मिलते हैं और एक समग्र को रचते हैं। इसी को उपेन्द्र कुमार निराला की भाषा में 'गहन है यह अंधकारा' कहते हैं। रूढ़ संस्कारों की अंधकारा।

'इतिहास का मुड़ा हुआ वरक' महाभारत के घटोत्कच उपाख्यान पर आधारित है। इस प्रसंग की मुख्य व्यंजना यह है कि प्रेम एक इतना कोमल भाव है कि उसके जन्म लेने से आसर प्रकृति और आसर भाव का तिरोहण हो जाता है। दानवी हिडिंबा में रूपांतरण को कवि ने बहुत ही सधे हुए ढंग से अंकित किया है–

बाहरी बारिश से तो केवल तन भींगता
है
इस अनुपम अपूर्व दिव्यानुभूति से
हमारा तामसी व्यक्तित्व बदल रहा है

वह अनचाहे ही अपनी संपूर्णता में पसीज रहा है :

पिघल रहा है।
यह अनुभूति में पहली बार हो रही है
हमीं नहीं संपूर्ण सृष्टि
अपने को उसी में समा रही है
मैं अपने भाई की नृशंसता का विरोध
करूंगी
मैं इन्हें अपना बनाकर
अपने पाप का प्रायश्चित करूंगी

प्रेम प्रगतिशील तत्त्व है और यह अन्य रिश्तों को नकार देता है।

उसके भाई हिडिंबासुर ने उसके प्रेम के आलंबन के वध का प्रयत्न किया था। उसके प्रति हिडिंबा की निरपेक्षता का कारण उसका भीम के प्रति प्रेम ही है। घटोत्कच प्रसंग का मुख्य महत्त्व काव्य में उपेक्षित होने का है। कवि ने अपने कविकर्म से इस उपेक्षा का परिहार किया है। इस कथा-कविता में वाटिका के उजड़ने और घटोत्कच प्रसंग में आंतरिक संबंध की तलाश उपचार से ही संभव है। उपचार काव्यशास्त्र की एक ऐसी अवधारणा है जिसमें दूरांत तत्त्व से सादृश्य की तलाश संभव हो पाती है। कवि-प्रतिभा के इसी संधान में उपचार निहित है। कवि के शब्दों में :

मुझे जो लगता है वाटिका को ठीक करने
और घटोत्कच के चरित्र पर लिखने में
एक आंतरिक संबंध है
उसका सार्थक निर्वाह ही
इस कविता का अनुबंध है।

इस कविता का यह अनुबंध उपचार के द्वारा ही संभव हो सका है।

सत्तू एक ऐसी कविता है जो नाचीज पर लिखी गई है। बिहार और उत्तर प्रदेश के सबाल्टर्न का यह प्रिय भोजन है। यह जन का खाद्य है–अभिजात के लिए यह अखाद्य हैं। शेष पांच मिथकीय, ऐतिहासिक और उत्पाद्य कथा पर आधारित कविताओं में जो लोकचेतना है उनसे कथाविहीन इस कविता की वस्तु की एकान्विति है। इसकी अभिजातहीनता का यह वर्णन अद्वितीय बन पड़ा है–

स्वाद लाजवाब
पौष्टिकता बेहिसाब
न बर्तन-बासन की खटपट
न चूल्हे चौके की तकरार
न पकाने का झंझट
न पानी
न उबाल
थोड़ा नमक
और हरी मिर्च हो तो बात ही क्या
बस गमछे में ही साना
और खा लिया

और आगे की पंक्ति–

पचाना इतना आसान
जैसे घूस का पैसा

भारत के लोकतंत्र पर यह कितनी तीखी चोट है। सादृश्य-विधान की सूक्ष्मता और दूरांतत्व इसे उपचार की कोटि में ला देता है। मानना होगा कि सत्तू गरीब के अधिकार पर केंद्रित कविता है। कविता से अधिक कविता की व्यंजना है।

'सदी की कविता' नामक रचना छह भागों में विभक्त है। अब यह एक मोहक बात है कि कवि उपेन्द्र कुमार और देश की आयु एक है, जन्मदिन एक है। 'आधी रात के बच्चे' नामक अंग्रेजी उपन्यास के लेखक सलमान रूश्दी ने भी आधी रात में ही जन्म लिया था और उस उपन्यास में भारतीय लोकतंत्र की प्रामाणिक समीक्षा प्रस्तुत की है। सदी की कविता का कवि भी भारतीय लोकतंत्र के लहूलुहान स्वरूप की मार्मिक समीक्षा करता है–'रोटी के टुकड़े पर राजनीति लिखी जा रही है।' कवि कहता है कि गलाघोंट आपाधापी की यह सदी है–

मची है मारकाट
आदमी आदमी के खून का प्यासा
हर ओर
भस्मासुरी संस्कृति
भौतिकता का आसव छानकर
समूची सभ्यता को लीलने को आतुर
है।

यह मूल्यों के विघटन का दौर है। लोकतंत्र का नाटक जारी है। अंतिम कविता 'का खाऊँ, का पीऊँ' भोजपुरी क्षेत्र की एक लोककथा है, कविता दो खंडों में है। प्रथम खंड में लोककथा का पद्यबद्ध वर्णन है। दूसरे खंड में समकालीन संदर्भ में उसका काव्यात्मक निरूपण खूंटे में फंसी चिड़िया की कहानी भारतीय लोकतंत्र की नीतिकथा बन जाती है। यहां राजा-रानी, लाठी, बिल्ली में सब बेईमान और अन्यायी हो गए। चिड़िया यानी गरीबी रेखा के नीचे की जनता के दुख को कौन देखता है। लोकतंत्र शोषणतंत्र बन गया है और गरीब लोगों के दाने उनके खूंटे में फंस गए हैं। कोई प्रार्थना इन आतताइयों के सामने काम नहीं आती है। अतः एकमात्र उपाय है लोकतंत्र के द्वारा ऐसी अन्यायी सत्ता को उखाड़ फेंकना। कवि लिखता है :

आश्वस्त राजा
जब कर रहा था घोषणा
अगले चुनाव की
अपनी चोंच तीखी कर
घात में थी चिड़िया
खूंटे पर अगले वार की।

इस कविता की वस्तु समकालीनता से प्रासंगिक बनती है।

उपेन्द्र कुमार की कविता की दिशा समकालीन कविता की मुख्यधारा से अलग है। आज की कविता या तो किसी दर्शन में उलझ जाती है या वक्तव्यों या काफी हाउस की बहसों से। उपेन्द्र कुमार स्वयं अपनी कविता की विशेषताओं को यूं रेखांकित करते हैं–

मेरी कविता तो लोकजीवन से जनमती
है
उसकी विद्रूपता पर फलती, फूलती है
समाज की असंगति को

दृष्टांत की असंगति को
दृष्टांत के द्वारा स्पष्ट करती है
जहां तक संभव है उससे जूझती है।

उनका प्रयत्न कविता को लोकजीवन से अनुस्यूत करना है। ये कविताएं लोकधर्मी हैं; लोककथा, लोकबिंब से रचित। सभी कविताओं का मिजाज देशी है। विदेशी संवेदनशीलता, विदेशी मिजाज, विदेशी शिल्प, विदेशी प्रभाव सबसे मुक्त। थोड़े-से कवि अभी इस तरह की कविताएं लिख रहे हैं जिससे हिंदी की ठेठ संस्कृति की रचना होती है। यह उपेन्द्र कुमार की कविताओं की सबसे प्रमुख विशेषता है। धरती, आकाश और लोक तीनों देशी हैं। सामाजिक सरोकार भी देशी मिजाज के हैं। इस संकलन की कविताओं का मूल अभिप्राय अंधकार का है : समाज का घुप्प अंधकार। पूंजीवाद के तहत समाज का अंधकार गहन होता ही गया।

गहन है यह अंधकारा
आज के मानव को दानवी विषदंत उग आए हैं
वह आदमीयत को अपने जबड़े में लेकर पगुरा रहा है।

हिंदी कविता में यह अंधकार निराला की लंबी कविता 'राम की शक्तिपूजा' में पहली बार जन्म लेता है। 'है अमानिशा, उगलता गगन घन अंधकार'। और धीरे-धीरे यह अंधकार पूरी हिंदी कविता पर छाता चला गया। धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' में, मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में', राजकमल चौधरी के 'मुक्ति प्रसंग' में और धूमिल की अनेक कविताओं में यह अंधकार अपना जबड़ा फाड़ता चला गया है। बाद की पूरी हिंदी कविता अंधकार की कविता बन जाती है। यह अंधकार सामाजिक रूढ़ियों के साथ राजनीतिक छल-छद्म और विश्वासघात का भी है। उपेन्द्र कुमार का यह संकलन भी इसी परंपरा की एक कड़ी है। अंधकार से लड़ते हुए ज्योति की तलाश।

गहन है यह अंधकारा/उपेन्द्र कुमार/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली 110032/ ₹ 150

लेन नं. 1, सराय सैयद अली, मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार), मो. 09430061479

क वि ता

लुप्त-विस्मृत जीवन सत्वों को सहेजने का जतन

रामरती मलिक

सुरेश सेन निशान्त का सद्यः प्रकाशित कविता संग्रह 'वे जो लकड़हारे नहीं हैं' यदि एक ओर भीतर स्मृतियों की पोटली, हरियाली का समंदर, जीवन की धूप-छांह एवं लोक जीवन की सौंधी महक समेटे है तो दूसरी ओर पूंजी, तकनीक, गति और प्रगति के नीचे दबती-पिसती कराहती जिंदगी की दारूण सच्चाइयां भी सिसक रही हैं।

इस कविता संग्रह का पहला सरोकार जहां जीवन की नैसर्गिकता मानवीय भावों एवं रागों को बचाने का प्रयास है तो दूसरी तरफ वर्तमान पूंजीवादी, तकनीकी यांत्रिक समय की असहिष्णुता एवं अन्याय की निर्ममता के कारण सुन्न हुई हमारी संवेदनाओं को स्पंदित करना भी है। वस्तुतः यह संग्रह एक ऐसा कोलाज रचता है जहां जीवन की अनेक छवियां और दृष्टियां, भाव और विचार, वैविध्य एवं विस्तार में एक साथ उद्घाटित होते चलते हैं। 'बंदूक' कविता में कवि एक नए मर्म के साथ उपस्थित है– *''बंदूक हमेशा गलत हो/और कविता ठीक/ऐसा नहीं होता हर बार/हो सकता है/सही सोच रखता हो/बंदूक चलाने वाला/ठीक हो उसकी वैचारिक समझ/बहुत प्यार हो/पूरी दुनिया के लिए/उसके मन में/उसकी आंखों के जल में/भरा हो प्यार भरा हरापन/...बचाना चाह रहा हो वह/धरती की सबसे सुंदर ऋतु/सबसे मेहनती व उदास आदमी के/सबसे सुंदर स्वप्न के लिए/लड़ रहा हो वह/एक लंबी लड़ाई/...बंदूकों से नहीं मरे हैं इतने...जितने मरे हैं भूख से/अकाल से मरे हैं जितने।''* एक छोटे से संदर्भ को एक विशेष अंदाज से खोलते हुए कवि यदि मुक्तिबोध के शब्दों में कहूं तो सभ्यता की एक नई समीक्षा रच रहा है। स्थितियों के अंतर्विरोधों के बीच छिपे महीन अर्थों को उभारने की बेचैनी उसमें निरंतर लक्षित होती है। पूंजी एवं तकनीक ने मानवीय संवेदना एवं सहानुभूति को किस कदर स्वार्थ और संकीर्णता में तब्दील कर दिया है, इसका दिग्दर्शन 'वे दस जन' कविता कराती है। मानव श्रम पर टिकी उन्नति एवं विकास की समूची शृंखला जीवन के उल्लास एवं उजास के स्रष्टा श्रमिकों के मान-महत्त्व से अनभिज्ञ हैं। किस तरह 'यूज एंड थ्रो' की पूंजीवादी तहज़ीब वस्तुओं से चलकर व्यक्तियों तक पहुंच चुकी है, उक्त कविता में मानवीय अवमूल्यन की गहरी शिनाख्त की गई है– *''उन्होंने मुंबई की अपनी मां की तरह सेवा की/उन्होंने दिल्ली में घोड़ों की तरह रिक्शे चलाए/खूब ढोये आदमी/खूब उठाया बोझ कलकत्ते में/वे पंजाब पहुंचे*

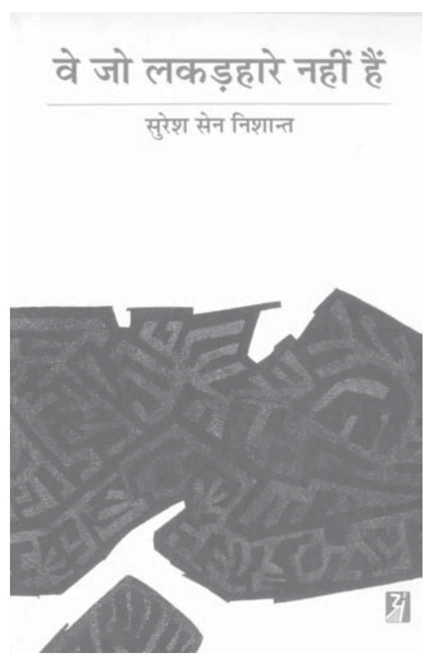

और/वहां की उर्वरा भूमि में/बीजों की तरह रच बस गए/...वे दुनिया के महानतम कोलम्बस/अब किसी टापू पे नहीं मिलेंगे/ अपने हिस्से की रोटी खोजते हुए/उनकी इच्छाओं की नावें/इरादों के चंपू/सब दफन हो गए/टनल के एक हिस्से में।''

सामने नजर आती घटना-स्थिति-व्यक्ति की सच्चाई का अतिक्रमण कर कवि उसके पीछे छिपी सूक्ष्म सच्चाई को अनावृत करता है जो सीधे पाठक के मर्मस्थल से टकराकर उसे स्तब्ध कर देती है–*''वे आएंगे और अपनी अस्थियों के एक-एक टुकड़े को करेंगे इकट्ठा/बनाएंगे उनसे अपने शस्त्र और हत्यारों पर वार करते हुए/बार-बार दोहराएंगे/इस बात को/कि वे दूर देश से यहां इस तरह मरने के लिए नहीं आए थे।''* कविता एक संकल्प देती है। मार्क्स ने भी तो 'दुनिया के मजदूरों एक हो,' का नारा देकर दबे कुचले पीड़ित दुखी जनों के हाथ एक संकल्प का शस्त्र ही तो थमाया था। आज अन्याय मिटाने के लिए किसी दधिचि की हड्डियों की दरकार नहीं है। मजदूर श्रमिक की हड्डियों में इतना तप और तेज है कि बड़े-से-बड़े आततायी को मिटाया जा सकता है।

विसंगति और विरोधाभासों के बीच भी जीने, प्यार, उल्लास, उत्सव आनन्द, उमंग के स्वप्न संग्रह की कविताओं में तैर रहे हैं। जीवन की नैसर्गिकता, निर्मलता, निष्कलुष-निजता को किसी भूमंडलीकरण, बाजार या तकनीक के बुलडोजर के नीचे चकनाचूर होने से बचाने का उद्यम कवि निरंतर कर रहा है। सरपट भागती जिंदगी की छीजती-बिखरती संवेदना को बचाने को नन्हीं-सी कोशिश 'गोपी ढाबे वाला' कविता में देखिए–*''कुछ भी नहीं बदला है/...हैरान हूं और खुश भी/दस वर्षों के बाद भी/नहीं भूला है गोपी/अपने ग्राहकों की शक्लें/पूछता रहा आत्मीयता से/घर-परिवार की सुख-शांत।''* कविता का पहला सरोहार इसी आत्मीयता, मानवीयता, कोमलता, रागात्मकता को सहेज समेट कर रखना होता है। विकास जब इन मानवीय रागों एवं भावों पर कदम रखकर उन्नति के सोपान चढ़ता है तो वह विकास और उन्नति मानव विरोधी ही नहीं, जीवन विरोधी भी हो जाती है। जीवन की सहजता-सरलता स्वार्थ एवं संकीर्णता के नीचे दब जाती है। भौतिकता और यांत्रिकता के खोल में मानवीय संभावनाओं एवं नई उद्भावनाओं के बीज जड़ के जड़ बने रह जाते हैं। निशान्त के कवि ने मानवीय संवेदनाओं के इन बीजों को सहेजा-संवारा-सींचा है और उगने-खिलने-फलने का मुक्त आकाश उनके लिए रचा है–*''चलो नदी तक हो आएं/अपनी शरारतों में उसे भी शामिल करें/संग उसके खूब धमा चौकड़ी मचाएं/और नदी को बताए बिना/उसके तलछट से मोतियों और सीप जैसे/कुछ सुंदर पत्थर समेट लाएं।''* 'छोटे मुहम्मद' कविता में कवि आत्मीय संस्पर्श से वस्तु-स्थिति, घटना एवं तथ्यों में एक अतिरिक्त दीप्ति का संचार कर देता है। उसके पास भावुक हृदय, जिज्ञासु मन, उत्सुक सजग आंखें हैं, जिनसे वे ऊपरी आवरण

को बेंधकर सूक्ष्म सच्चाइयों को कुशल गोताखोर के मांनिद ढूंढ लाता है। विषयों के आधिक्य से मुक्तिबोध भी टकराए थे, मगर निशान्त विषयाधिक्य में से जिन भाव-विषयों का चयन करते हैं, वे लोक जीवन से लटे-पटे हैं। लोक जीवन के विविध रंग, रूप, खुशबू, स्वाद उनमें विन्यस्त हैं। 'बीज' कविता में इन्हीं जीवन बीजों को बचाने की अभीप्सा व्यंजित होती है–*''मैं हूं तो/जरा-सा भीगने पर/पुलक से भर जाती है परती धरती/बीज हूं मैं/मुझे मत बिसराना/किसी लालच में पड़कर/गिरवी मत रखना/मैं तुम्हारा ईमान हूं।''*

'पच्चीस की उम्र' कविता आर्थिक मंदी में नौकरी से निकाले युवकों की त्रासदी से रूबरू कराती है तो 'पेड़' कविता में प्रकृति की उत्सर्गशीलता को प्रेरणाधर्मी रूप में उकेरा है–*''तपती धूप में/जीवन का एक उम्दा पाठ/एक पेड़ ने हमें पढ़ाया।''* 'जिजीविषा' कविता संघर्ष एवं संकल्पधर्मी वृक्ष जो पहाड़ी चट्टानों के बीच कैसे अपनी अस्मिता एवं सत्ता को सुरक्षित रखते हुए विशाल वृक्ष में रूपांतरित हो जाते हैं, की विजय गाथा है। 'प्याऊ' कविता पढ़ते हुए निराला की 'खुला आसमान' कविता की स्मृति स्वतः ही जाग जाती है। ग्रामीण संस्कृति जहां प्रकृति के साथ अभिन्न अटूट रिश्ता निरंतर बना रहता है, वहां प्रकृति की निःस्वार्थ उत्सर्गशीलता, कोमलता, सौम्यता एवं उदात्तता से जीवन ओतप्रोत रहता है।

मानव अधिकार और गरिमा को लेकर छिड़ी बहस में स्त्री सत्ता और अस्मिता का प्रश्न वर्तमान दौर का सबसे प्रचलित एवं अनिवार्य ज्वलंत मुद्दा है। स्त्री जाति पर आए आसन्न संकट ने संपूर्ण सामाजिक-पारिवारिक संरचना एवं व्यवस्था को लड़खड़ा दिया है। लुप्त होती वन्य वनस्पति तथा पशु-पक्षी प्रजातियों की तरह कहीं स्त्री जाति भी धीरे-धीरे लुप्त न हो जाए, इसलिए समय रहते चेत जैसा भाव बुद्धिजीवियों-समाजशास्त्रियों, मानव हित और भविष्य की चिंता में दुबले हुए नेताओं की चिंता एवं चिंतन का विषय बना हुआ है। व्यक्तिगत, सामाजिक एवं नैतिक-सांस्कृतिक जीवन में स्त्री का अवदान, पहचान, प्रयोजन और प्रेरणा को समकालीन कवियों ने भी जाना पहचाना है। समकालीन कवियों में आलोकधन्वा की वे लड़कियां, असद ज़ैदी की वे बहनें, भगवत रावत की कचरा बीनने वाली लड़कियां एवं निशान्त की 'लड़कियां' कविता में लड़कियों को लेकर

अद्‌भुत चिंता एवं समानता मिलती है। कन्या भ्रूण हत्या, पति एवं ससुराल की बलिवेदी पर होम होती लड़कियां, एक नई चिंता को मुखर करती हैं। *''क्योंकि हमें पता है/ लड़कियों की देह में है/नमक का विशाल समंदर/जो बचा सकता है/हमें असमय मरने से।''*

इस संग्रह की कविताओं का भाषिक मुहावरा भी लोक जीवन की सरलता-सादगी की गंध अपने में बसाए हुए हैं। वे सरल शब्दावली को एक विशेष तराश के साथ अपने भाव सत्यों के ताने बाने में गूंथते चलते हैं कि पाठक की सहज-सरल शांत मनोभूमि पर सीधी थाप पड़ती है और एक आंदोलन उमड़ना आरंभ हो जाता है। लोक भाषा को जिस तरह से कवि अपनी कविता में बरतता है वहां से एक नई व्यंजना, नई आभा चमक उठती है। *''अपने पसीने की स्याही से/खुरदरे हाथों से/लिखी है यह चिट्ठी/...बहुत पुरानी और एक सी है/हमारी खुद्दारी और हठ।''* कवि भाषित स्तर पर नए-नए प्रयोग करके भी सहज-संप्रेषणीयता का धर्म पूरा करता है।

कवि की सफलता की बुनियादी शर्त कविता की संप्रेषणीयता होती है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएं पाठकों की भावधारा पर जमीं काई हटाकर हौले-हौले ऊष्मा और ऊर्जा की उछाह से पाठकों को स्तब्ध-विस्मित रस विभोर करती हैं। वर्तमान बदलाव में अनुभव और संचारी भाव भले ही लुप्त हो गए हैं, मगर अंतःस्थल में बहती मानवीय राग-विरागों की धारा अभी शेष है। कुंवर नारायण की कविता के शब्द हैं–'आज मैं शब्द नहीं। किसी ऐसे विश्वास की खोज में हूं। जिसे आदमी में पा सकूं।' कवि निशान्त भी ऐसा ही विश्वास जीवन में रोपने का संकल्प दिलाते हैं– *'आंखों में खुशी के आंसू छलकाता/एक उम्मीद-सा पहुंचना चाहता हूं/तुम्हारे पास तुम्हारे हाथों में/तुम्हारी आंखों में।'*

वे जो लकड़हारे नहीं हैं/सुरेश सेन निशान्त/अंतिका प्रकाशन/सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन एक्सटेंशन, गाजियाबाद-201005, ₹ 200

मकान नं. 18, सेक्टर-14, रोहतक-124001, हरियाणा, मो. 09416763839

मर्मग्राहिणी संवेदना का कर्म-सौंदर्य

श्याम कश्यप

हिंदी में मर्मज्ञ आलोचक बस दो ही हैं। रामचंद्र शुक्ल और नामवर सिंह। मुक्तिबोध ने भी अपने एक पत्र में नामवरजी को 'मर्मज्ञ' कहा है। मर्मज्ञ, यानी काव्य-मर्मज्ञ। यह मर्मज्ञता या तो होती है या नहीं। कम-ज़्यादा बिल्कुल नहीं। जहां नहीं होती, वहां नहीं ही होती। इसकी क्षतिपूर्ति किसी अन्य चीज़ से नहीं हो सकती। दृष्टि, सिद्धांत, विचारधारा, किसी से नहीं। फिर वह विचारधारा या सिद्धांत चाहे मार्क्सवाद ही क्यों न हो! मर्मज्ञता सोना है, तो बाकी सब सोहागा!

यह अनायास ही नहीं है कि नामवरजी भोग और उपयोग की तुलना में 'आस्वाद' पर बल देते हैं। आस्वाद, यानी **एप्रीसिएशन**। जैसा कि वे 'कला की आशंसा' पर अपने एक व्याख्यान में कहते हैं : 'सिद्धांत से इतने आक्रांत हैं लोग कि साहित्य को आस्वाद लेकर, रस लेकर पढ़ना बिल्कुल दूर की चीज़ हो गई है।' वे बताते हैं कि हमारे यहां टीका परंपरा थी। भाष्य परंपरा थी। अंग्रेज़ी में उसी को **रीडिंग** कहते हैं। रीडिंग माने व्याख्या **इंटरप्रटीशन**। सिद्धांत इस व्याख्या से ही बनते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में 'काव्यास्वाद के अनुभव से आगे चलकर सिद्धांत निकलते हैं, बनते हैं।' हत्-भाग हैं वे 'आलोचक' जो ताज़िंदगी इस काव्यास्वाद के अनुभव से वंचित रहते हैं। फिर भी पोथों पर पोथे लिखते चले जाते हैं। होंगे वे 'आलोचक'! पर वे साहित्य-मर्मज्ञ नहीं होते।

समीक्षित पुस्तक **'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता'** इसी मर्मज्ञता की सांझीदार बनाती है। बशर्ते आपमें काव्यास्वाद के अनुभव को ग्रहण करने की मर्मग्राहिणी संवेदना और सहृदयता हो! **छायावाद** और **कविता के नए प्रतिमान** के बाद नामवरजी की कविता पर कोई कृति नहीं आई। हालांकि घोषणाएं कई कीं। आज भी ऐसी कोई अन्य कृति नहीं है जो छायावाद के समूचे सौंदर्य का मर्म उद्‌घाटित कर, उसका समग्र ऐतिहासिक मूल्यांकन करती हो। इसी तरह छायावादोत्तर कविता के मर्म में दूर तक प्रवेश कर, उसके व्यक्त-अव्यक्त सौंदर्य का सूक्ष्म विश्लेषण करने में आज भी 'प्रतिमान' का कोई सानी नहीं। भले ही उसके इस या उस निष्कर्ष से किसी का मतभेद हो! अथवा उसकी पद्धति पर आपत्ति! न सही मुकम्मल कृति, पर छूटे हुए 'गैप्स' को भरने में इस संकलन के लेख और टिप्पणियां कई नई बातें जोड़ती हैं। नई और सार्थक भी!

नई से नई प्रवृत्तियां पहचान कर उनके पूर्वा-पर संबंध जोड़ते हुए, उनकी प्रतिनिधि

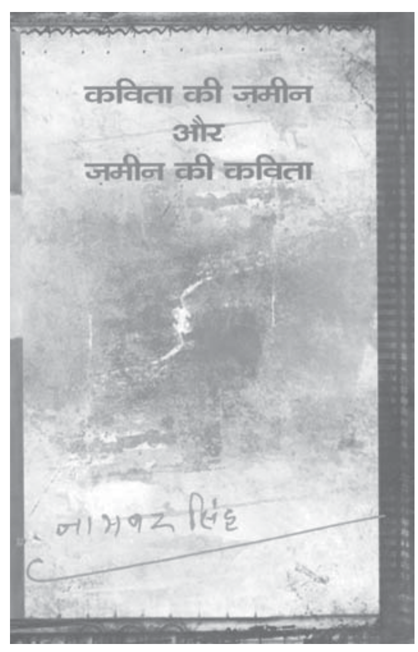

कृतियों या कविताओं के विशिष्ट सौंदर्य का आत्मीय साक्षात्कार कराने वाला ऐसा आज कोई अन्य आलोचक नहीं है। न ही उनके सामाजिक संदर्भों की सटीक पहचान के साथ समग्र मूल्यांकन करने में पूर्ण समर्थ। कहना न होगा कि इस सौंदर्यात्मक वैशिष्ट्य की रक्षा में गलत प्रवृत्तियों को चिह्नित कर, उनका संहार भी उनकी इसी संवेदनात्मक सहृदयता का दूसरा पहलू है। पिछले ज़मानों में रामचंद्र शुक्ल हुआ करते थे और आज नामवर सिंह हैं, जो उस लेखक के गुणों की भी भरपूर प्रशंसा कर सकते हैं जिसकी विचारधारा के वे कट्टर शत्रु हैं या जो उन्हें सख़्त नापसंद है।

जहां तक विचारधारा का सवाल है तो वहां न गुरु को छूट है, न गोविंद को रियायत! यहां तक कि ख़ुद अपनी किसी चूक या गलत मान्यता को फ़ौरन त्याग या सुधारकर स्वयं उसकी सार्वजनिक आत्म-स्वीकृति से भी कोई संकोच नहीं। फिर लोग चाहे 'अवसरवादी' कहते फिरें! दूसरे ही नहीं, अपने भी! इस सबके लिए नामवर सिंह का जिगरा चाहिए। उनका समूचा कृतित्व इसी का साक्ष्य है। कहना न होगा कि समीक्षित संकलन भी इसका अपवाद नहीं है। साहित्यिक मूल्यांकन में अपनी निजी रुचि या हठ की छाया तक नहीं। भले ही तथाकथित 'कंसिस्टेंसी' के दर्प में करते रहें लोग एक ही जगह कदमताल!

छायावाद के केंद्र में यदि निराला थे तो **प्रतिमान** के केंद्र में मुक्तिबोध। इस संकलन में गुप्तजी और पंतजी के अलावा शमशेर, मुक्तिबोध, नागार्जुन और त्रिलोचन की कविता पर लेख और टिप्पणियां हैं। कहना न होगा कि उपर्युक्त दोनों कृतियों के साथ मिलकर यह संग्रह आधुनिक हिंदी कविता की मार्मिक समालोचना है। उसके समग्र सौंदर्यात्मक पहलुओं को उजागर करते हुए। भले ही कभी संकेत मात्र में! निश्चय ही अनिवार्य सामाजिक संदर्भों और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ। विशेष महत्त्व यह है कि संकलन में अनेक ऐसे अनुपलब्ध लेखों सहित, जिन्होंने नामवर सिंह को **नामवर सिंह** बनाया, लगभग 43 वर्षों की सुदीर्घ कालावधि में बिखरे विचार एक जगह सिमट आए हैं।

इसमें नामवरजी की मर्मज्ञता का परिचय देने वाले प्रतिनिधि लेख तीन हैं। बल्कि दो लेख और एक व्याख्यान। मैथिलीशरण गुप्त की जन्म-शती पर 'आलोचना' का विशेष संपादकीय लेख और पंतजी पर जून, 1960 की 'कृति' में छपा एक लेख। यह जगजाहिर है कि नामवरजी पंत की तुलना में निराला-काव्य के प्रेमी हैं और गुप्तजी की 'इतिवृत्तात्मक' कविता, उनकी सिलपट भाषा और 'पुनरुत्थानवादी' दृष्टिकोण के कट्टर आलोचक। इस लिहाज से ये दोनों लेख और गुप्तजी पर व्याख्यान विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। ख़ास बात यह भी ध्यान देने की है कि नामवरजी प्रायः भाषा-विश्लेषण से शुरू करके, बल्कि उसे अपने सूक्ष्म विश्लेषण का आधार बनाते हुए, कविता के सभी सौंदर्यात्मक पक्षों और सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों का एक सिरे से अनावरण करते चले जाते हैं।

वे बताते हैं कि श्रीधर पाठक ने गुप्तजी से 25 साल पहले **एकांतवासी योगी** में 'खड़ी बोली' का जो काव्यरूप प्रस्तुत किया, वह **जयद्रथ-वध** और **भारत भारती** की तुलना में कम गद्यवत् और अधिक सरल है' और गुप्तजी ने 'पाठकजी की जीवंत परंपरा को प्रकृत दिशा में आगे बढ़ाने' की बजाय उस दिशा में मोड़ दिया 'जहां खड़ी बोली अपनी स्वाभाविक लोच खोकर गद्य पथ पर बढ़ चली।' उनके मतानुसार गुप्तजी की काव्य-भाषा की गद्यात्मकता का आधार ''गद्य-मात्र नहीं, बल्कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का गद्य है।'' वे यह भी मानते हैं कि उनकी भाषा 'सपाट' है, उसमें 'रागात्मकता का अभाव' है। कहते हैं : ''भाषा रागात्मक न सही, तथ्यात्मक तो है। तथ्यात्मक होना दोष नहीं।'' दूसरे ही पल गुप्तजी की भाषा को 'इकहरी' बताकर लिखते हैं कि ''भाषा का यह इकहरापन वस्तुतः उनके भाव-बोध और चिंतन के इकहरेपन का सूचक है।'' लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि ''गुप्तजी मूलतः अभिधा के कवि हैं। अभिधा के समर्थ कवि।'' यहां भी कुछ तंज तो महसूस किया ही जा सकता है!

'जयद्रथ-वध' के बारे में उनका कहना है कि ''भाषा गद्यात्मक ही है, फिर भी प्रसंगों की मार्मिकता के उद्घाटन में पूरी तरह समर्थ है।'' वे इसे आधुनिक हिंदी काव्य में एक चमत्कार बताकर लिखते हैं कि ''हरिगीतिका छंद में कथा-निर्वाह कर लेना साधारण कौशल नहीं और वह भी कथा-प्रवाह के बीच नाटकीय संवादों की योजना करते हुए।'' नामवरजी के अनुसार कविता में कहानी कहने की इस कला के दर्शन फिर खंड-काव्य 'किसान' में होते हैं। अधिक विकसित रूप में। वहां गुप्तजी की गद्यात्मक भाषा 'बोलचाल की भंगिमा से भर उठती है' और पाठक (या श्रोता) गांव की चौपाल में पहुंच जाता है। गुप्तजी के काव्यत्व, उनकी भाषा और उनके भाव-बोध व चिंतन की जड़ से आलोचना करते हुए भी नामवरजी का स्वर सहानुभूति से भीगा रहता है। ज़रा-सी सकारात्मक बात देखते ही उनकी हार्दिकता और मार्मिकता के तार बज उठते हैं : ''गुप्तजी ने **भारत भारती** की लोकप्रियता के बाद काव्य में द्विवेदी-युगीन 'गद्यात्मकता' से मुक्त होने की कोशिश की।'' लेकिन इसमें उनकी तुलना में पूर्ण सफलता उनके कनिष्ठ समकालीन छायावादियों को मिली।

नामवरजी ध्यान दिलाते हैं कि यह कोशिश छायावादियों की तरह ब्रजभाषा के बरक्स खड़ी बोली को मधुर और कोमल बनाने की थी। ज़ाहिर है कि छायावादियों के काव्य में वह ''कोमल और मधुर ज़रूर हुई—साथ ही संवेदनशील, व्यंजक और मूर्त भी; पर इस प्रक्रिया में वह चित्र और संगीत हो गई। सब कुछ हो जाने और पा जाने पर भी नहीं रही तो 'भाषा'—जो कविता का अपना धर्म है, जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से संवाद करता है।'' संवाद की भाषा, यानी 'सचमुच ही बोली जाने वाली भाषा।' यह काम **निराला** के हाथों सम्पन्न हुआ!

बोलचाल की इस 'सचमुच' की भाषा की दिशा में, नामवरजी के अनुसार, 'निश्चय ही निराला ने आगे चलकर कुछ छंदों के द्वारा पहल की, लेकिन यह उस युग का अपवाद ही है', क्योंकि ''सही अर्थों में इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास तब शुरू हुआ जब साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की प्रेरणा से कविता आकाश से उतरकर धरती पर आई और सामान्य जनता से जुड़ने के लिए सक्रिय हुई।'' वे लिखते हैं कि ''जन-जीवन और भाषा की जड़ों में

जाकर कविता में खड़ी बोली हिंदी की संभावनाओं की पहचान जिन नए कवियों ने कराई, उनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय और धूमिल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।'' यहां लक्ष्य करने की बात यह है कि गुप्तजी के बहाने आधुनिक हिंदी काव्य-भाषा के विकास का ग्राफ़ खींचते हुए नामवरजी मुक्तिबोध और शमशेर का नामोल्लेख नहीं करते! वह **कविता की दूसरी परंपरा** है। कहना न होगा कि इस **पहली परंपरा** की भांति दूसरी परंपरा का उत्स भी निराला में है!

इस संकलन में नामवरजी की संवेदनात्मक सहृदयता का सबसे मार्मिक उदाहरण पंतजी वाला लेख है। इसमें वे पंतजी की परवर्ती काव्य-स्फीति की कठोर आलोचना करते हुए भी अंत में यह लिखते हैं कि पंतजी की व्यक्तिगत कविताओं का एक अंश अवश्य ऐसा है, जो उनके सहज व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है : ''निस्संदेह यह बूढ़े चांद की कला है, लेकिन 'चांद बूढ़ा हो गया है'—यह आत्मबोध ही इन रचनाओं को मर्मस्पर्शी बना देता है और यहीं वे हमें अपने समवर्ती प्रतीत होते हैं। इसीलिए उन्हें हम पूर्ववर्ती का सम्मान ही नहीं, बल्कि समवर्ती का स्नेह भी देते हैं।'' यही है एकदम निरस्त्र कर देने वाली आलोचना!

परवर्ती पंत में विचार, अनुभूति और कला के 'परिवर्तनों' को एकदम अविश्वसनीय बताते हुए वे लिखते हैं कि ''प्रायः विचारों का साथ अनुभूति नहीं देती और अनुभूति का साथ कला नहीं दे पाती, यहां तक कि ढलती उम्र में संवेदनों को ग्रहण करने की शक्ति भी रह-रहकर साथ छोड़ने लगती है।'' उनके परवर्ती काव्य में उभरने वाली अत्यधिक ऐंद्रियता को लक्ष्य कर वे कहते हैं कि ''इंद्रिय-बोध की दुर्बलता से ही इस प्रकार की ऐंद्रियता प्रकट होती है, जो वार्धक्य का संकेत है। दुर्बल इंद्रिय-बोध, अतीत की स्मृति में डूबी अनुभूतियां और लोकमंगल का ऊंचा आदर्श—इन तीन छोरों पर तना हुआ कवि व्यक्तित्व परिपक्वता में न ढलकर एक दूसरे स्तर पर समूचे प्रयत्न को दुखद बना देता है।'' और कहना न होगा कि नामवरजी का मूल्यांकन पंत के प्रति सहानुभूतिशील भी।

पंत जो विकास नहीं कर सके, वह ढलती उम्र में भी **निराला** निरंतर और उत्तरोत्तर करते दिखलाई देते हैं : ''इस शताब्दी के काव्य-विकास पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। इस इतिहास के अंदर किसी छायावादी कवि के सहज परिपाक के लिए पूर्ण अवसर था। संभवतः निराला का अंतः विकास इसी प्रकार का है, इसीलिए लोकमंगल की बड़ी-बड़ी बातें न करते हुए व्यक्तिगत अनुभूतियों में भी वे हमारे अधिक समसामयिक हैं, क्योंकि वहां एक व्यक्तित्व है, जो बदलते हुए युगों के गर्भ में आयु के साथ टूटते हुए भी काव्य-बोध के स्तर पर क्रमशः परिपक्व होता गया।'' ठीक यहीं हमें निराला के बाद **शमशेर** याद आते हैं : काल से होड़ करते हुए कालजयी कविता के रचनाकार शमशेर बहादुर सिंह!

संकलन में शमशेर पर दो लेख हैं। अक्टूबर, 1958 में 'कृति' के प्रवेशांक में (वहां 'बात बोलेगी हम नहीं' शीर्षक से) छपा लेख 'शमशेर की रचना-प्रक्रिया' और 27 जुलाई, 1990 की लिखी 'प्रतिनिधि कविताएं' की छोटी-सी भूमिका : 'शमशेर की शमशेरियत'। नामवरजी 'कृति' में उन्हें 'हिंदी के एकमात्र बिंबवादी कवि' कहकर, इसकी वज़ह 'वस्तु के मूल रूप को पकड़ने' का आग्रह बताते हैं। इसीलिए वे 'नए कवियों में सबसे अधिक मौलिक' भी हैं। शमशेर को बिंबवाद के प्रवर्तकों में मुख्य मानते हुए नामवरजी लिखते हैं कि ''अंग्रेज़ी की आधुनिक कविता की तरह हिंदी की नई कविता का आरंभ भी बिंबवाद से हुआ है और इसका श्रेय अधिकांशतः शमशेर को है।'' उनकी कविताओं को 'सर्वाधिक दृश्य और सर्वाधिक श्रव्य' बताते हुए वे मानते हैं कि स्पष्ट बिंब यदि उनकी कविताओं को सफलता के साथ दृश्य बनाते हैं तो संगीत की सूक्ष्म लयमयता श्रव्य!

शमशेर के इंद्रिय-बोध को उनकी कवित्व-शक्ति के प्रसार का प्रकृत क्षेत्र बताकर वे कहते हैं कि 'उन्होंने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मूर्त इंद्रिय-बोधों के दृढ़ आधार पर कविता का ढांचा खड़ा' किया है। नामवरजी के शब्दों में, ''छायावाद में जो कविता फेन तथा फूल थी, उसे उन्होंने तराशकर हीरे की तरह कठोर बना दिया है।'' दूसरे कवि अज्ञेय हैं। जिन्होंने ऐसी कठोर कविताएं लिखी हैं। लेकिन अज्ञेय के विपरीत शमशेर की 'इन्हीं कठोर कविताओं में आद्योपांत एक अत्यंत संवेदनशील चेतना का स्पर्श मिलता है' और यही बात उन्हें बेजोड़ बनाती है।

'कृति' वाले लेख में नामवरजी ने शमशेर की कविताओं को 'स्वगत-संलाप' कहा है। लगभग 32 साल बाद 'प्रतिनिधि कविताएं' की भूमिका में वे पुनः लिखते हैं कि ''शमशेर की प्रायः सभी कविताएं एकालाप हैं—आंतरिक एकालाप।'' वे उन्हें एक नए ढंग का 'लिरिक' बताते हुए कहते हैं : एकालाप में संलाप और संलाप में एकालाप! यह अतिशय अंतर्मुखता का परिणाम है। इससे आरंभ के स्पष्ट बिंब उलझते-उलझते 'रहस्य-रूप' बन जाते हैं, जिसकी परिणति प्रतीकवाद में होती है।

शमशेर की चित्रशाला में 'रंगों की लीला' का ज़िक्र करते हुए वे कहते हैं कि ''हिंदी कविता में रंगों का ऐसा महोत्सव अन्यत्र दुर्लभ है।'' यह अनायास ही नहीं है कि उन्होंने अनेक चित्रकारों की पेंटिंग्स पर ही कविताएं नहीं लिखी है वे खुद भी एक प्रशिक्षित पेंटर थे। नामवर जी के अनुसार उनकी चित्रशाला के चित्र 'इम्प्रेशनिस्टिक' (प्रभाववादी) ही नहीं, कुछ 'सुर्रियलिस्टिक' (अति-यथार्थवादी) भी हैं। कुछ सरल रेखांकन-मात्र और कुछ पत्थर की तराशी हुई मूर्ति की तरह ठोस भी!

शमशेर ने अपनी 'सघन ऐंद्रियता के साथ अपनी प्रेम और सौंदर्य की कविता में 'अकुंठ मन से शरीर का उत्सव रचा' है और 'कविता में कला का ऐसा संयोजन और यह वैभव कालिदास के बाद शमशेर के ही काव्य में संभव' हो पाया है। नामवर जी कला की इस विजय का स्रोत 'कवि की निष्कंप प्रतिबद्धता' को मानते है : ''मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म शमशेर की कविता के हाशिए पर न तब था, न अब है। हमेशा वह उस कवि-व्यक्तित्व का अभिन्न अंग रहा है जो कविता का केंद्र है।'' जीवन के गहरे 'ट्रैजिक बोध' के साथ शमशेर का यह विजय-गान एक कारुणिक शोक-गीत भी है! यह अनायास ही नहीं है कि भूलकर, राह भटकने की कल्पना में भी, 'सघनतम की आंख बन' उनके ज़ेहन में

निराला ही झलकते हैं! निराला का मतलब है समूची परंपरा।

मुक्तिबोध के बिंब-विधान से शमशेर की तुलना करते हुए 'कृति' वाले लेख में नामवरजी ने लिखा है कि ''मुक्तिबोध के बिंब जहां ठेठ भाषा के वाक्य-विन्यास में बंधकर शृंखलाबद्ध हैं, वहां शमशेर के बिंब आपाततः विशृंखल हैं—वस्तुतः विशृंखल नहीं हैं। इन दोनों कवियों को समझने के लिए इनसे बढ़कर परस्पर-विरोधी युग्मक मिलना कठिन है। एक ही इकाई के जैसे ये दो विरोधी तत्व हों और वह इकाई स्वयं बिंब-विधान है।'' पत्रिका के अगले ही अंक में मुक्तिबोध पर अपने लेख में वे कहते हैं कि ''किसी कवि के वस्तुस्थिति के ज्ञान का पता उसके बिंबों के कोष से लगाया जाता है। इस दृष्टि से नए कवियों में मुक्तिबोध का बिंब-कोष सबसे समृद्ध कहा जा सकता है।'' अंग्रेज़ी के मेटाफ़िज़िकल कवियों की तरह मुक्तिबोध परस्पर विरोधी बिंबों का अक्सर एक साथ प्रयोग करते हैं। नामवरजी के अनुसार ''नई कविता यदि द्वंद्व से पैदा हुई है तो मुक्तिबोध इस ऐतिहासिक द्वंद्व के प्रतिनिधि कवि हैं।''

अनुभूति की जटिलता और संवेदनाओं की तीव्रता को मुक्तिबोध की कविता की विशेषता बताते हुए नामवरजी ध्यान दिलाते हैं कि 'जीवन के विविध संबंध-सूत्रों से उनकी दृष्टि एकक्षण के लिए भी ओझल नहीं होती' और ''उनकी किसी भी कविता में विशाल जीवन के इस घने संबंध-सूत्रों को देखा जा सकता है।'' नामवरजी के अनुसार ''परिवेश का यह सतत बोध उनकी छोटी-से-छोटी अनुभूति को भी घनत्व प्रदान कर देता है।'' वे लिखते हैं कि संवेदनाओं और अनुभूतियों को चिंतन की आंच में तपाने के बाद जैसी परिपक्व कविता हो सकती है, वही मुक्तिबोध की वाणी है।'' कहना न होगा कि यह तभी स्पष्टतः उजागर था कि उनके चिंतन के केंद्र में मार्क्सवाद है। और जो उनके जीवन के अंत तक रहा भी!

नामवरजी के अनुसार 'तार-सप्तक' के कवियों में 'केवल मुक्तिबोध ही हैं जिनमें आज भी 'आत्मसंघर्ष का बोध जीवंत है' और तब ''जगदबोध के बीच आत्मबोध का प्रश्न उठाना इतिहास की आवश्यकता थी।'' वे रेखांकित करते हैं कि ''मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष मुख्यतः लोकोन्मुखी तथा वस्तोन्मुखी है और यही वह विशेषता है जो उन्हें अपने समकालीन अनेक आत्मवादी कवियों से अलग करती है।'' यह मुक्तिबोध पर पहला महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेख था, जैसा कि शमशेर पर भी। बेहतर होता कि मुक्तिबोध पर इस लेख के साथ ही 'कवि' में उनकी कविताओं के साथ छपी नामवरजी की छोटी-सी टिप्पणी भी यहां संकलित की जाती। इन दोनों 'कृति' लेखों का ऐतिहासिक महत्त्व तो असंदिग्ध है ही, इस संकलन के गुप्तजी, नागार्जुन और त्रिलोचन वाले लेखों के साथ मिलकर यह हिंदी आलोचना का ऐसा 'पंचामृत' है जो 'छायावाद' और 'प्रतिमान' से जोड़कर देखने पर खड़ी बोली हिंदी की आधुनिक कविता की मुकम्मल तस्वीर प्रस्तुत करता है। ऐसा सटीक, बेधक और मार्मिक मूल्यांकन और सूक्ष्म विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। ये पांचों लेख और 'शमशेर' की भूमिका इस संकलन की ही नहीं, हिंदी आलोचना की श्लाघ्य उपलब्धि हैं!

नागार्जुन को नामवर जी ने 'स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि जनकवि' कहा है और त्रिलोचन की कविता को 'हिंदी की जातीय कविता'। वे मानते हैं कि ''त्रिलोचन की कविता एक नए काव्य-शास्त्र की मांग करती है' और इसका अर्थ है ''कविता संबंधी चालू धारणाओं के दायरे से बाहर निकलना। अंग्रेज़ी में जिसे **कैनन** कहते हैं। उसे चुनौती देना, बदलना।'' त्रिलोचन को नितांत 'अनात्म और निर्वैयक्तिक कवि' बताकर वे लिखते हैं कि ''त्रिलोचन की निपट निर्वैयक्तिकता में भी गहरी वैयक्तिकता है, जो ठोस यथार्थ का निर्मम बोध कराती है और साथ ही आत्मीयता का भाव भी जगाती है; और इस प्रकार वे विडंबना और तन्मयता एक साथ पैदा करते हैं। नागार्जुन को कबीर के बाद हिंदी कविता में सबसे बड़ा व्यंग्यकार मानते हुए नामवरजी यह भी प्रमाणित करते हैं कि ''तुलसीदास और निराला के बाद कविता में हिंदी भाषा की विविधता और समृद्धि का ऐसा सर्जनात्मक संयोग नागार्जुन में ही दिखाई पड़ता है।'' संकलन में नागार्जुन पर तीन और त्रिलोचन पर दो लेख हैं।

इस महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ सामग्री के अलावा इस संकलन में शेष ज़्यादातर रस्मी तौर पर लिखे गए लेख, टिप्पणियां, संपादकीय या भाषण ही हैं। यथा रस-सिद्धांत पर पुनर्विचार और संस्कृत कविता की दूसरी परंपरा, रवींद्रनाथ की इतिहास-दृष्टि, कबीर के भगवाकरण के द्वारा उन्हें 'अगवा' करने के प्रयासों पर प्रहार तथा सुब्रह्मण्य भारती, ब्रेष्ट और नेरुदा पर लेख और टिप्पणियां। पाठकों को इसमें 'ज्ञानोदय' में 1963 में लिखी नामवरजी की बहुचर्चित लेखमाला 'नई कविता पर क्षण भर' की पांचों टिप्पणियां और 'आजकल' (जून, 1953) में छपा लेख 'नई कविता की भाषा' जैसी दुर्लभ और लगभग विस्मृत सामग्री भी मिलेगी। लेकिन इससे पूर्व समीक्षित दोनों पुस्तकों की तुलना में इसीलिए यह संकलन कुछ हल्का भी लग सकता है। कहना न होगा कि नामवरजी के रस्मी-लेखन यह का 'हलका' भी हिंदी के स्वनामधन्य बड़े-बड़े आलोचकों पर भारी पड़ेगा! फिर उपरोल्लिखित मात्र 'पंचामृत' के कारण ही यह संकलन ऐतिहासिक महत्त्व का दर्जा हासिल कर लेता है, इसमें भी कोई संदेह नहीं।

कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता/नामवर सिंह/राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली-110002/ ₹ 250

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096, मो. 09891250940

साहित्येतिहास के बहाने रामविलास शर्मा की इतिहास-दृष्टि

रमाकान्त राय

हिंदी साहित्य में जब इतिहास-दृष्टि की बात आती है तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल के 'जनता की चित्तवृत्ति के साथ पं.हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'लोकचिंता' का ध्यान आता है और भक्ति आंदोलन की व्याख्या में शुक्ल जी के इस्लाम के प्रभाव के आलोक में द्विवेदी जी के 'हिंदी साहित्य की भूमिका' की प्रसिद्ध पंक्ति उभरती है–'मैं इस्लाम के महत्त्व को नहीं भूल रहा हूं लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम नहीं भी आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' आशय यह कि साहित्य का इतिहास इतिहासकार की मानसिकता, वैचारिक प्रतिबद्धता और पृष्ठभूमि से निर्धारित होता है। तभी तो जिस कबीर को शुक्लजी ने उपेक्षित कर दिया था उसे हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसी के समकक्ष प्रतिष्ठित किया और आज हमारे लिए कबीर कहीं अधिक प्रासंगिक है। बहरहाल, कहना यह है कि इतिहास का लेखन जिस प्रकार साम्राज्यवादी, राष्ट्रवादी, सबाल्टर्न, मार्क्सवादी नजरिए से होता है उसी तरह साहित्य का इतिहास का भी। हिंदी साहित्य का इतिहास भी इससे अछूता नहीं। जार्ज ग्रियर्सन के इतिहास लेखन में जहां साम्राज्यवादी मानसिकता है वहीं रामचंद्र शुक्ल के लेखन में अभिजात्यपन। परवर्ती आलोचकों में अधिकांश ने हालांकि व्यवस्थित रूप से कोई इतिहास ग्रंथ नहीं लिखा किंतु विषयों पर उनके लेखन ने साहित्येतिहास को नई दृष्टि से संपन्न अवश्य किया।

डॉ. राम विलास शर्मा के समूचे आलोचनात्मक लेखन में उनकी इतिहास-दृष्टि यूरोप केंद्रित विचारधारा (प्रस्तुत पुस्तक में इसे यूरोकेंद्रित विचारधारा कहा गया है जिससे काल-विपर्यय का बोध अधिक उभरता है। 'यूरो' अब यूरोप की सामूहिक मुद्रा है और बहुत बाद में प्रचलन में आई है। 'यूरोकेंद्रित कहने से कोई स्पष्ट छवि नहीं बनती क्योंकि अर्थ-वित्त की दुनिया में यूरो नहीं डॉलर की तूती बोलती है।) का खंडन करती है और शुद्ध भारतीय दृष्टि का आग्रह करती है। रूपेश कुमार सिंह की कृति 'रामविलास शर्मा की साहित्येतिहास दृष्टि' रामविलास शर्मा के विविध विषयों पर लिखी गई आलोचनों में उभरकर आने वाली इतिहास-दृष्टि को विवेचित करते हुए उनकी विचारधारा के आग्रह के औचित्य को स्पष्ट करती है।

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी आलोचना के शिखर पुरुषों में हैं। शुक्लोत्तर आलोचकों नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं नगेंद्र के बाद जिस प्रगतिशील आलोचना की

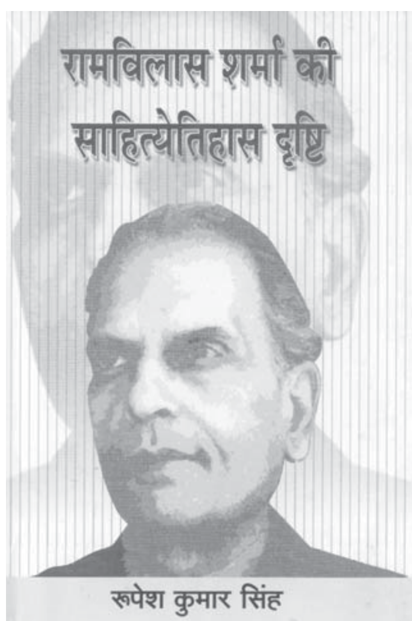

शुरूआत हिंदी में मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को केंद्रित करती हुई, उसके आधार स्तंभ रामविलास शर्मा ही थे। अपने आरंभिक दौर में वे प्रगतिवादी विचारधारा के प्रवक्ता के रूप में उभरे और आग्रह की अति के कारण लगभग ध्वंसात्मक आलोचना के प्रस्तोता बने। किंतु कालांतर में उनके आलोचना कर्म में वाद का आग्रह कम होता गया और विवेचन प्रधान। यद्यपि रामविलास जी के आलोचना-कर्म पर अनेक विवाद हुए किंतु उन्होंने हर बार अपने मत पर दृढ़ रहकर प्रगतिशीलता को सर्वोपरि माना।

रूपेश की यह किताब इस निष्ठा को प्रगतिशील मूल्यों से अभिन्न करके देखती है। यूं तो व्यवस्थित इतिहास ग्रंथ के रूप में रामविलास जी की कोई रचना नहीं है किंतु हिंदी साहित्य के लगभग हर बड़े एवं महत्त्वपूर्ण पक्ष पर अवश्य विचार किया था। उनके ये विचार विविध आलोचनात्मक कृतियों यथा परंपरा का मूल्यांकन, भाषा और समाज, रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, प्रेमचंद और उनका युग, निराला की साहित्य साधना (तीन भागों में), भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं, भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण आदि में परिलक्षित होते हैं।

रामविलास शर्मा के साहित्येतिहास विवेचन पर दृष्टिपात करते हुए उनकी इतिहास दृष्टि को लेखक ने भारतीयता से ओतप्रोत व साम्राज्यवादी विचारधारा के खिलाफ प्रतिरोध दर्ज कराने वाली तथा जनवादी चेतना से सम्पृक्त बताया। लेखक के अनुसार रामविलास शर्मा का लेखन इतिहास की पूर्वग्रहयुक्त धारणाओं से मुक्त है। वे स्थापित करते हैं कि विकसित एवं सभ्य होने का दावा करने वाले

अंग्रेजों के मुकाबले प्रगतिशीलता का तत्त्व भारतीय पृष्ठभूमि में कहीं अधिक है। यह औपनिवेशिक प्रभाव है कि हम प्रगतिशीलता की खोज करने विदेश चले जाते हैं अथवा साम्राज्यवादी दृष्टिकोण रखते हैं। आर्यों के बारे में उनकी धारणा इसी साम्राज्यवादी विचारधारा का विरोध करती है। समीक्ष्य कृति में लेखक ने विस्तार से बताया है कि रामविलास जी का आर्यों के प्रति दृष्टिकोण प्रामाणिक व्याख्या पर आधारित था। भाषिक अध्ययन बताता है कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आए थे अपितु 'आर्य यहां से बाहर गए और आर्यों के साथ द्रविड़ भी।' उल्लेखनीय है कि इस एक स्थापना से कई ऐतिहासिक धारणाएं खंडित होती हैं और इतिहास की नई व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

रामविलास शर्मा ने भक्तिकाल, नवजागरण, पुनर्जागरण को आर्थिक परिस्थितियों के आलोक में व्याख्यायित किया था। भक्तिकाल में ढाका, मुर्शिदाबाद, आगरा के बाजारों एवं मंडियों के आयात-निर्यात एवं विपणन का लेखा-जोखा देते हुए उन्होंने बताया है कि ये मंडियां किस प्रकार यूरोपीय बाजारों के मुकाबले उन्नत अवस्था में थीं। तत्कालीन संत मत के कवियों के भक्ति आंदोलन में शामिल होने के कारक को वे इसी निकष पर रखकर देखते है। व उनके आत्मविश्वास को आर्थिक स्वतंत्रता से जोड़ते हैं और इस प्रकार भक्ति आंदोलन को जनता के सामंत विरोधी सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में देखते हैं। यहां लेखक का मत है कि "इन्होंने भक्ति आंदोलन के विकास में उन तत्त्वों को रेखांकित किया जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान प्रायः नहीं गया था।"

आमतौर पर जहां हम इतिहास-दृष्टि की बात करते हुए सुदूर अतीत की चर्चा करके छुट्टी पा लेते हैं, वहीं यह किताब उसके व्यापक आयाम को स्पर्श करती है। ध्यातव्य है कि लेखक ने उन सभी पहलुओं को विवेचन के लिए चुना है जो साहित्येतिहास को प्रभावित कर सकने में सक्षम है इसीलिए जहां 'आधुनिकता की छानबीन' की गई है वहीं 'नवजागरण की अवधारणा' एवं 'छायावाद के अंतर्विरोध' पर स्वतंत्र अध्याय रखे हैं। रामविलास जी का भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला, प्रेमचंद एवं आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर महत्त्वपूर्ण काम है। ये हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के उन नामों में हैं जिन्होंने अपने समय के सृजन कर्म को गहराई से प्रभावित किया है और युग-निर्माता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस तथ्य को ध्यान में रखकर प्रत्येक के लिए एक स्वतंत्र अध्याय रखा गया है ताकि साहित्येतिहास के विवेचन में इनके योगदान को समझा जा सके। इन अध्यायों में जहां रामविलास शर्मा की आलोचना के सबल पक्षों की ओर ध्यान दिलाया गया है वहीं उभरकर आने वाले अंतर्विरोधों को बड़े आत्मविश्वास व साहस के साथ उद्घाटित किया गया है। कहना न होगा कि रूपेश कुमार सिंह की पहली ही आलोचनात्मक पुस्तक (जो उनके शोध प्रबंध का विस्तार है) रामविलास शर्मा सरीखे विशाल व्यक्तित्व वाले आलोचक के अंतर्विरोधों का निष्पक्ष रेखांकन है। शर्मा जी के विपुल आलोचना साहित्य से इतिहास की एक सुव्यवस्थित दृष्टि का अनुसंधान निश्चय ही चुनौतीपूर्ण कार्य था, जिसे उन्होंने अपने भरसक उठाने की कोशिश की। लेकिन दुखद बात यह है कि उनकी इस पुस्तक से डॉ. शर्मा की साहित्येहास दृष्टि ठीक से प्रस्तुत नहीं हो सकी। उन्होंने डॉ. गीता शर्मा की पुस्तक 'डॉ. रामविलास शर्मा और परंपरा का मूल्यांकन' (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली), आचार्य नलिन, विलोचन शर्मा की पुस्तक 'साहित्य का इतिहास दर्शन' पलटने की जहमत नहीं उठाई इसलिए यह पुस्तक डॉ. शर्मा की साहित्येहास-दृष्टि को ठीक से नहीं प्रस्तुत करती है।

रामविलास शर्मा की साहित्येतिहास दृष्टि/रूपेश कुमार सिंह/राका प्रकाशन, इलाहाबाद-2, ₹ 225

हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, संपर्क-09838952426

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाएँ हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्र व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्र व्यवहार तथा चित्र आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

जीवंत कवि की जीवंत आत्मकथा

अरविंद मोहन

पाब्लो नेरुदा पिछली शताब्दी के दुनिया के सर्वाधिक प्रभावशाली कवियों में एक हैं। उन्होंने बहुत लंबा जीवन नहीं जिया, लेकिन बहुत ही उतार-चढ़ाव और संघर्षों वाला जीवन जिया। पूरी दुनिया में घूमे, पूरी दुनिया से प्रभाव और विषय लिए तथा पूरी दुनिया को प्रभावित किया। वह लातिन अमेरिकी देश चिले के थे, विचारों और कर्म से कम्युनिस्ट थे। कई मुल्कों की लड़ाइयों में हिस्सा लिया, कई वैश्विक आंदोलनों से जुड़े रहे, जान जोखिम में डालकर भी अपने मूल्यों को आगे बढ़ाने में जुटे रहे। हमारी अपनी हिंदी कविता पर भी जिन विदेशी कवियों का सर्वाधिक प्रभाव रहा है, उनमें पाब्लो नेरुदा काफी ऊपर आते हैं। नेरुदा अपनी आत्मकथा भी लिख रहे थे, जो उनकी असमय मृत्यु से अधूरी रह गई थी। इसे उनकी तीसरी पत्नी मातिल्दे नेरुदा और मिगेल ओतेरा सिल्वा ने पूरा किया—सिर्फ कर्मकाण्ड से पूरा नहीं किया—इनका लिखा हिस्सा भी कहीं से अलग नहीं लगता और जिस कवि ने गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की प्रेरणा से लेखन शुरू किया और कांग्रेस के अधिवेशन (आजादी से पहले) में भाग लेने समेत चार बार भारत की यात्रा की (प्रधानमंत्री नेहरू के दौर की यात्रा बहुत ही अजीब रही थी) और भारत से ज्यादा लगाव रखता हो, उसे भारत में भी पर्याप्त स्नेह और आदर मिला। उनकी रचनाओं और जीवन का प्रभाव हमारी एक पूरी पीढ़ी (खासकर, हिंदी कवियों) पर रहा। पर हमारे लिए उनका जीवन किस्से-कहानियों की चीज ही था। अब हिंदी में उनकी आत्मकथा का प्रकाशन उनके प्रति एक आदरभाव को ही दिखाता है और हमारी एक जरूरत को भी पूरी करता है।

इसे और भी अच्छा मानना चाहिए कि यह अनुवाद सीधे-सीधे स्पैनिश से हुआ है तथा इसे (वामपंथी) साहित्य से गहरा सरोकार रखने वाली संस्था कांफ्लूएंस इंटरनेशनल ने प्रकाशित किया है। अनुवादक मनीषा तनेजा ने स्पैनिश की पूरी पढ़ाई की है—अर्थात, पी-एच.डी. तक की और अध्ययन भी कर रही हैं। पर इतने बड़े कवि का अनुवाद कितना मुश्किल है, इसका अंदाजा भी इस किताब से होता है—कविताओं का अनुवाद जाहिर तौर पर और भी मुश्किल होगा। एक इतना बड़ा कवि अगर गद्य लिखता है, तब भी उसमें कविता की, उसमें बिंबों की, हर लफ्ज की बारिकी का ख्याल रखा जाता है। उन सबको पकड़ना—खासकर एकदम विदेशी संदर्भों वाले—किसी भी अनुवादक के लिए बहुत मुश्किल होता है। मनीषा के अनुवाद में भी शुरू से आखिर तक यह दिक्कत दिखती

है—सपाट ब्यौरें वाला हिस्सा काफी अच्छा है, लेकिन जरा कवि मन मचला और अनुवाद लड़खड़ा गया है। बची-खुची परेशानी संपादन न होने और प्रूफ ठीक से न पढ़े जाने से है—खासकर आखिरी हिस्से में। और कविताओं का अनुवाद पढ़कर तो लगता ही नहीं कि इतने बड़े कवि को पढ़ा जा रहा है।

लेकिन इन कमियों के बावजूद इस किताब को पढ़ने की सलाह यह समीक्षक देगा ही और जिनका वास्ता कविता से, कला से और संघर्ष वाली राजनीति से हो, उनके लिए तो यह एक अनिवार्य किताब होनी चाहिए। असल में नेरुदा जैसा जीवन कम ही कवियों-एक्टिविस्टों ने जिया होगा, इसलिए उनकी आत्मकथा भी विलक्षण है। कवि किन-किन चीजों से प्रकृति की विलक्षणता, सौंदर्य, मनोभावों, समाज-राजनीति की विशिष्ट प्रवृत्तियों को देखता-समझता है, किन-किन चीजों को कैसे 'पकड़ता' है, यह ब्यौरा आपको आमतौर पर आत्मकथाओं में नहीं मिलता। इनमें आत्मप्रशंसा, अपनी ज्ञात गलतियों को छुपाने या उनका स्पष्टीकरण देने, दूसरों को ओछा दिखाने, विभिन्न घटनाओं पर अपनी टिप्पणी या अपने कामों का लेखा-जोखा देने जैसा काम ही होता आया है। यहां एक साथ जीवन को पूरे सौंदर्य और भौतिक सुखों के साथ जीने की लालसा और मर्म के साथ-साथ समाज और खासकर गरीबों के संघर्ष में मददगार बनने की दास्तान, कविता की प्रकृति से लेकर संघर्ष तक के रिश्तों का और मुश्किल से मुश्किल स्थितियों में गहरी आशा के साथ संघर्ष के जो ब्यौरे हैं, वे आपको हर स्तर पर मजबूत और समझदार बनाते हैं। आपको बहुत कम किताबें इतना कुछ दे पाती हैं।

एक सामान्य परिवार में जन्म लेकर

बहुत सामान्य ढंग से जीवन शुरू करने वाले नेरुदा की रुचि कविता लिखने और कम्युनिस्ट आंदोलन का सिपाही बनने में कैसे हुए, क्यों हुई, किन-किन चीजों और परिस्थितियों ने इसमें मदद की यह कहानी ही ज्यादा रोचक है और इसमें बिना मां और नौकरी पर गए बाप वाला यह लड़का तितलियां पकड़ने, अमरुद तोड़ने से लेकर 15 हजार किस्म के सीप-शंख जमा करने वाला जीवन भी जीता है और दुनिया की यात्रा करता है, राजदूत होता है, जीवन जोखिम में डालकर भागता है, जेल जाता है, खलिहान में एक तंदुरुस्त मजदूरनी से शरीरी प्रेम का पहला अनुभव करने से लेकर तीन शादियां करने और अनेक महिलाओं से बहुत ही स्वस्थ शर्तो पर दोस्ती रखते हुए जीवन बिताना, दुनिया भर की शराबों, अच्छे व्यंजनों, अच्छी चीजों का शौक रखना और एक कम्युनिस्ट का जीवन जीना भी इसमें पर्याप्त दिलचस्प ढंग से आया है।

पर विचारधारा की भक्ति कई जगह गड़बड़ भी कराती है। नेरुदा भी सोवियत रूस और फिर चीन की 'सफलताओं' से चमत्कृत लगते हैं, जबकि उनके समय तक सोवियत अर्थव्यवस्था की, खासकर पार्टी की तानाशाही और डेमोक्रेटिक सेंट्रलिज्म की खामियां उजागर हो चुकी थीं। वह स्टालिन और माओ के बारे में जो कुछ लिखते हैं, उसमें भक्तिभाव ही झलकता है। पर उन्हें लातिन अमेरिकी रुझान की विशिष्टताओं और इतिहास का भरपूर ज्ञान है। सोवियत और चीनी व्यवस्था के गुणगान के साथ उन्होंने भारत की अपनी दूसरी यात्रा में कम्यूनिस्ट होने के चलते सही गई परेशानियों और पंडित नेहरू की उपेक्षा का भी रोचक वर्णन किया है।

लेकिन स्पष्टतः ब्यौरों वाले हिसाब से सबसे दिलचस्प और प्रेरणा वाले हिस्से के गृहयुद्ध में मैं उनकी भागीदारी, उसके चलते अच्छी भली बड़ी नौकरी गंवाने, जान जोखिम में डालने और अपने मुल्क के संघर्ष के दौरान माचू पिच्चू और एंडिस पहाड़ियों और जंगल के रास्ते भागने के किस्से की सराहना करता हूँ। ऐसा किस्सा सर्दियों में कपड़े के अभाव में कंपकपाते मजदूरों को रातभर कविता सुनाने और कम-से-कम दर्जन भर राजनीतिक आंदोलनों में हिस्सेदारी से हैं। और इन सबके बीच आप नेरुदा को लोर्का, पिकासो, नाजिम हिकमत जैसे विश्वस्तरीय कलाकारों, आलोचकों, कवियों से सीधा रिश्ता रखते और संवाद करते देखते हैं, तो आपको उनके वास्तविक कद का अंदाजा होता है। किताब में नेरुदा ने अपने शुरूआती कवि मित्रों से लेकर आखिर तक के साहित्य, कला, संस्कृतिकर्मियों तक के हजारों छोटे-बड़े नाम और प्रसंग दिए हैं। पर यह जानना बहुत दिलचस्प है कि पलायन कर रहे नेरुदा की मदद में एक छोटे राजा पेपे रोद्रेगास ने जंगल में साठ किलोमीटर की सड़क बनवा दी थी। अपनी कला के अन्य प्रेमियों का भी जिक्र नेरुदा ने किया है और संभवतः पहली बार इसी किताब में उन्होंने अपने नाम की कहानी का खुलासा भी किया है कि किस प्रकार लेखन से चिढ़ने वाले पिता से बचने के लिए उन्होंने किसी पत्रिका में छपे एक छद्म नाम को अपनाया। उन्हें बाद में पता चला कि यह किसी बड़े कवि का नाम है, जिसे तब चेकोस्वोवाकिया में पूजा जाता था। अब ये रोचक प्रसंग जरूर हैं और इतने बड़े कवि से संबंधित है, तो उनकी रोचकता भी बढ़ती है। पर किताब का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण हर जगह, हर अवसर, हर माहौल के बीच कविता वाली स्थितियों का वर्णन या इस तथ्य का रेखांकन है कि कवि असल में किन-किन चीजों को महत्त्व देता है। ऐसे में एक बार हलाल होने के लिए आए मेमने की चिचियाहट सुनकर उसे ले भागने और उसे रखने के झंझटों का वर्णन काफी रोचक है और मेमने जैसी हालत वाले कई सारे लोगों की मदद के किस्से भी हैं। सो जिस किताब में संघर्ष हो, प्रेम देने-पाने के किस्से हों, महत्त्वपूर्ण प्रसंगों के ब्यौरें हों और कविता लायक स्थितियों-विषयों को बताते जाने के चलते यह किताब आम पाठकों के साथ-साथ कविता लिखने, मूल्यों की राजनीति करने वालों और हर हाल में अच्छे मूल्यों के प्रति आस्था रखने वालों के लिए बहुत उपयोगी और जरूरी बन जाती है।

हां, मैंने जिंदगी जी है/पाब्लो नेरुदा/अनुवाद—मनीषा तनेजा/कांफ्लूएंस इंटरनेशनल, 203/ई-580, ग्रेटर कैलाश-2, नई दिल्ली-110048, ₹ 160

ए-504, जनसत्ता अपार्टमेंट, वसुंधरा सेक्टर-9, साहिबाबाद, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201102, फो. 0120-2881881

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास
(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन
नीलाभ

मूल्य
250/- (प्रति खंड)
1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक
शिल्पायन
10295, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

नौटंकी की मलिका : गुलाबबाई

सुभाष शर्मा

गुलाबबाई सिर्फ एक नाम नहीं है। वह पर्याय रहा है नौटंकी का, खासकर कानपुर शैली जहां गायन, वाद्य आदि के साथ-साथ अभिनय और कहानी को भी महत्त्व दिया जाता था जबकि हाथरस शैली में गायन को विशेष महत्त्व दिया जाता था और अभिनय को बहुत कम। गुलाबबाई ने सिर्फ पंद्रह साल की उम्र में (1931-32) पहले स्त्री पात्र (तारामती) के रूप में 'राजा हरिश्चंद्र' नामक नौटंकी के खेला में अभिनय किया। उससे पहले पुरुष ही दोनों तरह के पात्रों की भूमिका अदा करते थे। वह 1931-32 से 1996 तक नौटंकी से जुड़ी रहीं। बाद के दिनों में जब वह युवा किरदार नहीं निभा पाती थीं, तो अपने को सिर्फ गाने तक ही सीमित कर लिया—'दादरा'। उनकी आवाज में 'माधुर्य और मजबूती' दोनों थी। यूं अशिक्षित होने के कारण उन्हें रागों की समझ कम थी। मगर उनमें सहजानुभूति अद्‌भुत थी। 'गुलाबबाई ने गाना पहले सीखा, बोलना बाद में, नाचना पहले सीखा, चलना बाद में'। इसीलिए उन्हें पद्मश्री जैसा महत्त्वपूर्ण सम्मान मिला। उनमें आत्मसम्मान की प्रबल भावना थी। वह बाजारू नहीं थी और घंटों रियाज करती थीं। वह बेड़िया आदिवासी समुदाय की थीं जहां लड़कियां बचपन से नाच-गान के लिए प्रेरित की जाती हैं और उनकी ही कमाई से परिवार की रोजी-रोटी चलती है। सो वह समुदाय बेटियों के जन्म पर खुश होता है। यह रेखांकित करने वाला तथ्य है। वह एक मायने में अविवाहित थीं मगर चार बच्चों की मां थीं तीन बेटियां और एक बेटा। पुरस्कार देते समय राष्ट्र-राज्य उन्हें 'श्रीमती गुलाबबाई' के नाम से संबोधित करता रहा है। नौटंकी के एक जानकार ने कहा था : ''कमल कीचड़ में पैदा होता है। उसी मिट्टी में बनते हैं सब। वे किसी की रखैल नहीं थीं। क्यों, चाहती तो गुलाबबाई खुद कितने मर्दों को 'रख' सकती थीं।'' (पृ. 14) फणीश्वर नाथ रेणु की प्रसिद्ध कहानी 'तीसरी कसमल' (जिस पर उसी नाम से फिल्म बनी थी) गुलाबबाई की निजी जिंदगी से बहुत मेल खाती है। लेकिन स्त्री-पुरुष द्वारा एक ही कार्य करने पर भी समाज कैसे दोहरा मापदंड अपनाता है, इसे इस तथ्य से जाना जा सकता है कि जब कोई पुरुष अच्छा गाता है, तो 'उस्ताद' (गुरु के अर्थ में) कहलाता है (जैसे उस्ताद बिस्मिल्लाह खान, उस्ताद अलाउद्दीन खान, उस्ताद डागर बंधु) मगर जब कोई स्त्री अच्छा गाती है तो 'बाई' (बाजारूपन) कहलाती हैं। अर्थात् एक ही पेशे में लैंगिक भिन्नता दोहरा सामाजिक प्रतिमान बनाती है

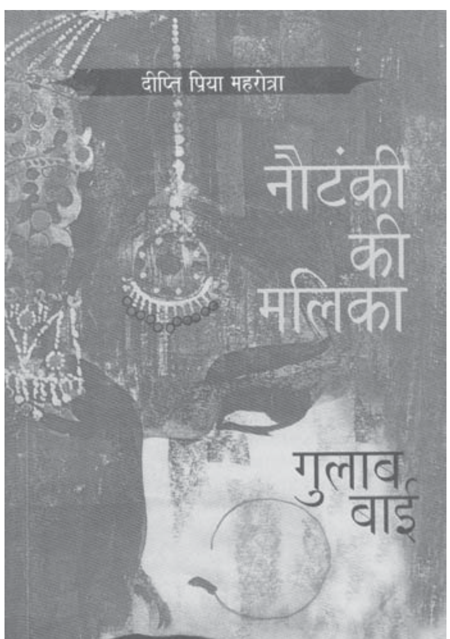

मर्द की पहचान मर्यादा और गायन ज्ञान के अधिकारी के रूप में जबकि स्त्री की पहचान महज नाचने-गाने वाली के रूप में होती है तो अमर्यादित/असम्मानीय माना जाता है। यह स्त्री-विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

अंग्रेजी हुकूमत ने बेड़ियां जैसी घुमंतू जातियों/जनजातियों को अपराधी घोषित किया था। वे उन्हें कहीं बसाना चाहते थे क्योंकि वे एक जगह अपराध करके दूसरी जगह चले जाते थे जिससे उन्हें पकड़ना मुश्किल होता था। बेड़िया औरतों का नृत्य 'राई' या 'छपका' या 'रावला' कहलाता है और वे प्रायः त्यौहारों के दिन शराब पी-पीकर रात-रात भर नाचा करती हैं। गुलाबबाई बचपन में ही गली-कूचों में थिरकती रहती थी। खाते-पीते, बर्तन मांजते या कपड़े धोते या पानी भरते सब जगह वह गाती रहती थीं। उनका बचपन गरीबी में बीता। सर्दी में उनकी मां उनकी दो बहनों को पुआल पर सुला देती थीं और एक लहंगा उन सबको ओढ़ा देतीं, दूसरा लहंगा खुद पहनतीं। जब नौटंकी में काम करते-करते परिवार की स्थिति सुधरी, तो गुलाबबाई ने अपने गांव में एक हवेली बनवाई और फूलमती मैया के मंदिर का जीर्णोद्धार किया तथा उसमें पुजारी के रहने के लिए आवास, यज्ञशाला तथा गर्भगृह आदि अच्छी तरह बनवाया। एक नई नौटंकी की पहली प्रस्तुति अपने गांव बलपुरवा (कानपुर) में फूलमती मैया के मंदिर में पूजा करने के बाद करतीं। वह कृष्ण की भी पूजा करती थीं। इससे जाहिर है कि आर्थिक स्थिति संभलने पर प्रायः धर्म में आस्था बढ़ जाती है। वह पास के मकनपुर के मेले में हर साल नौटंकी खेलने जाती थीं। पहले बचपन में वह उसी मेले में कठपुतली की नाच देखने आपने मां के साथ जाती थी। वहीं उन्होंने 'राजा

हरिश्चंद्र' (पंडित नत्थाराम गौड़ की कंपनी द्वारा) नामक नौटंकी का खेला देखा। पहले उसने कानपुर के तिरमोहन लाल की नौटंकी कंपनी में काम शुरू किया। नौटंकी में आई लड़कियां प्रायः बेड़िया या तवायफ होती थीं। वे प्रायः शादी नहीं करती थीं। इन नौटंकी खेलों में सामाजिक रीति-रिवाजों के बदलाव, निजी दुविधाएं, नैतिकता के सवाल आदि उठाए जाते थे। शुरू में नौटंकी में दलित-पिछड़े वर्ग के लोग ज्यादातर होते थे मगर कालांतर में उच्च जातियों के लोग भी उसमें हिस्सा लेने लगे। लेखिका दीप्ति प्रिया महरोत्रा का यह कथन बिल्कुल सटीक है : ''नौटंकी उत्तर भारत के पुरुष प्रधान इलाकों में खेली जाती थी जहां भाई या पिता की उपस्थिति या गैर-उपस्थिति देखकर आंका जाता कि फलां लड़की के साथ खिलवाड़ करें या न करें।'' (पृ. 73) स्त्री-विमर्श का यह एक नया सूत्र है जहां स्त्री को छेड़ने का कारण उसके साथ पुरुष का न होना-यानी 'असहाय' होना है। सो थियेटर कंपनी के प्रबंधक स्त्री पात्रों की 'सुरक्षा' के लिए उन्हें पर्दे में रखते थे। दिन में वे बाहर नहीं निकलती थीं—तंबू के सीमित दायरे में कैद रहती थीं। प्रबंधकों का यह भी मानना था—''अगर आपको दिन में देख लेंगे, तो रात को टिकट कौन लेगा?'' (पृ. 74) ऐसा उपाय व्यापारिक दृष्टि से लाभदायक था मगर स्त्रियों की आजादी की कीमत पर। यह भी स्त्री-विमर्श का एक आयाम है जहां सुरक्षा और व्यावसायिक मुनाफा गड्ड-मड्ड हो जाता है। लेकिन यहां विरोधाभासी आयाम भी था जहां महिला कलाकारों को नजदीक से देखने और बातचीत करने के लिए सेठ और रईस लोग हजार रुपये देते थे और एक कलाकार मालिकों से बचकर उनसे मिलती थीं तथा रुपये पाकर खुश होती थीं क्योंकि थियेटर में कम मजदूरी मिलती थी।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत नाटकों के विदूषकों की तरह नौटंकियों में जोकर हास-परिहास, हाजिर-जवाबी, फक्कड़-बाजी आदि से गंभीर दृश्यों से ऊबे परेशान दर्शकों को आराम देते थे। दूसरे, जोकर पुरानी दकियानूसी परंपराओं पर सवाल भी उठाता था जैसे प्रेम करने वालों को घर-परिवार की अनुमति न मिलने पर जोकर उसकी खिल्ली उड़ाता था अथवा प्रेमी युगल को गांव-जवार छोड़कर भाग जाने को कहता था। तीसरे, जोकर धर्म, ज्ञान और राजनीति की सत्ताओं पर सवाल भी उठाता था। अन्य पात्र ऐसा करने की हिम्मत नहीं करते थे और ये सत्ताएं जोकर की बातों को हंसकर बिसरा देती थीं। नौटंकी में जोकर शब्द सर्कस की दुनिया से आया। खैर... नौटंकियों को कुछ अखाड़े प्रकाशित करते थे। इनके लेखक गई अज्ञात लोग होते थे मगर नाम छपता था अखाड़े वाले का। यही परंपरा कई प्रकाशक अपना लिए हैं—जैसे, विदेशी भाषाओं की कृतियों का वे अनुवाद किसी अनुवादक से करा लेते है। मगर अनुवादक के रूप में प्रकाशक अपनी संस्था का नाम छाप देते हैं। मजेदार बात तो यह है कि नौटंकी खेलने की जगहों पर इन पुस्तकों को बेचा जाता था और आजकल नुक्कड़ नाटकों के खेलने के समय किताबें बेची जाती है। चूंकि कानपुर औद्योगिक शहर था (जहां 1901 में सत्तर हजार मजदूर काम करते थे), सो नौटंकी उनके मनोरंजन का प्रमुख साधन था क्योंकि तब टी.वी. का प्रचलन नहीं था और सिनेमा के पर्दे की बजाय नौटंकी में कलाकारों से दर्शक रूबरू होते थे, सो यह ज्यादा लोकप्रिय थी। 1940 तक नौटंकी ने पारसी रंगमंच से कई चीजें अपना ली थीं। दूसरी ओर कलाकारों को तब लगभग नियमित वेतन मिलने लगा। नौटंकी के लेखक संस्कृत नाटकों, फारसी प्रेम गाथाओं और पौराणिक गाथाओं में नया संगीत जोड़कर उन्हें समसामयिक बना देते थे। पंडित नत्था राम गौड़, इंदरमन, यासीन मियां आदि नौटंकी के आलेख लिखते थे। ज्ञातव्य है कि हाथरस के नत्था राम के नाम से प्रकाशित आधी नौटंकियों के आलेख वास्तव में इंदरमन ने लिखे थे। इसी प्रकार कानपुर के तिरमोहन लाल के नाम से प्रकाशित नौटंकी आलेखों में से अधिकांश को कन्नौज के यासीन मियां ने लिखे थे जो कानपुर में एक कारखाना श्रमिक थे। वास्तव में, नौटंकी की कथा की परिकल्पना तिरमोहन लाल करते थे और उसे असली रूप यासीन मियां देते थे। तिरमोहन लाल अपनी कंपनी में निर्देशक थे। बाद में श्रीकृष्ण पहलवान ने छापाखाना खोला और नौटंकी की पुस्तकों पर अपनी फोटो छापते थे जबकि असली लेखक पन्नालाल और लक्ष्मीनारायण थे। स्वत्वाधिकार मालिकों का था और लेखक को थोड़ी-सी राशि बतौर मजदूरी दे दी जाती थी। वे मालिकों से सौदेबाजी करने की स्थिति में नहीं होते थे। हिंदी-उर्दू, संगीत, संवाद, राग-ताल आदि पर अद्भुत पकड़ वाले यासीन मियां का निधन एक सौ साल की उम्र में 1957 में 'अनारकली' नामक नौटंकी लिखते समय हो गया। सो उनके बेटे आमीन ने 'अनारकली' का लेखन पूरा किया। सो तिरमोहन लाल की नाव डगमगाने लगी। उन्होंने अपनी नौटंकियों के प्रकाशन का अधिकार श्रीकृष्ण पहलवान को बेच दिया। और श्रीकृष्ण पहलवान ने उसे अपने नाम से प्रकाशित कर खूब लाभ कमाया शायद उनसे प्रेरणा लेकर आज के अधिकतर प्रकाशक लेखकों को ठेंगा दिखाकर लाभ कमा रहे हैं।

मगर अंग्रेजों ने नौटंकी जैसे परंपराशील नाट्यों की प्रभावोत्पादकता का पहले ही अंदाजा लगा लिया था, सो 1876 में ही 'ड्रैमेटिक परफार्मेंस एक्ट' पारित किया था जिसके अनुसार सक्षम अधिकारी की अनुमति के बिना नाटक-नौटंकी, नाच-गान सार्वजनिक स्थलों पर नहीं हो सकते थे। सो 1942 में 'भारत छोड़ो आंदोलन' के समय ब्रिटिश प्रशासन ने तिरमोहन एंड कं. पर इस कानून के तहत प्रतिबंध लगा दिया क्योंकि उसके द्वारा मंचित 'बहादुर लड़की' को देखने के लिए हजारों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। इससे राष्ट्रीय भावना जागृत हो रही थी। उस नौटंकी में एक अंग्रेज अफसर शराब पी रहा होता है। कोई कारिंदा एक नाचने वाली को पकड़ लेता है। नाचने वाली का प्रेमी एक क्रांतिकारी भारतीय कार्यकर्ता है। वह नाचने वाली अंग्रेज शासकों को गाली देती है क्योंकि उसका प्रेमी जेल में है। अंग्रेज अफसर उसे रिहा करने का वादा करता है बशर्ते वहां एक रात उसके साथ बिताएं। बहादुर लड़की उसको एक थप्पड़ मारती है। फिर वह लड़की अचानक गवर्नर से मिलती है और साहस से कहती है :

''जब शिकारी हो खुद मुल्क का बादशाह,
उसका हाकिम भला क्यों शिकारी न हो।
याद-फरियाद सुनने की फुरसत कहां,
कैसे बर्बाद रैयत बेचारी न हो॥''

(पृ. 93)

गुलाबबाई का वेतन 1942 में दो हजार रुपये मासिक हो गया था जो तत्कालीन जिलाधीश के वेतन से भी अधिक था। फिर गुलाबबाई को प्रशंसक चांदी के सिक्के भी

मंच पर प्रदर्शन के दौरान देते थे। बेडिया परिवार में नथ उतरवाई की रीति थी मगर गुलाबबाई वह उम्र पार कर गई थी। आमतौर पर बेड़िया औरतों को तवायफ कहा जाता था (जो प्रायः एक या दो ग्राहकों के लिए उपलब्ध होती थीं जबकि वेश्या कई ग्राहकों के लिए उपलब्ध होती थीं)।

कन्नौज के चंदर सेठ, जो खस, केवड़ा और गुलाब से बने इत्र का व्यवसाय करते थे, ने गुलाबई को अपने दिल की रानी बना लिया यद्यपि वह शादीशुदा थे। वह कन्नौज नगरपालिका के अध्यक्ष थे। उसके पहले एक पुलिस इंस्पेक्टर द्वारा गुलाबबाई से छेड़खानी करने पर चंदर सेठ ने उसे सजा दिलवाई थी। चंदर सेठ ने गुलाबबाई के पिता की हर मांग मान ली थी, यहां तक कि उसके भाई-बहनों का नियमित खर्चे उठाने का जिम्मा भी ले लिया था। चंदर सेठ ने उन सबके लिए बलपुरवा (कानपुर) में हवेली का निर्माण कराया था, और कन्नौज में एक अलग कोठी भी बनवाई थी। शादी के समय चंदर सेठ की एक ही शर्त थी कि वह नौटंकी का काम छोड़ देगी। सो 1943 में गुलाबबाई ने नौटंकी में काम करना छोड़ दिया। दूसरी तरफ चंदर सेठ की पहली पत्नी इस शादी से खुश नहीं थीं–आखिर सौतन को कोई भारतीय स्त्री कैसे सहन कर सकती है। परंतु नारीवादी इस तथ्य को कैसे नजरअंदाज कर देते हैं क्योंकि यहां पितृसत्ता इस कुप्रवृत्ति के लिए सीधे जिम्मेदार नहीं होती। गुलाबबाई ने एक बेटै सुरेश को जन्म दिया। मगर चंदर सेठ में प्रेम की पुरानी आग बुझने लगी थी। वे बेटे पर ध्यान नहीं देते थे और काम में व्यस्त होने का बहाना बनाकर कई दिनों तक गुलाब और बेटे के पास तक नहीं फटकते। फिर अफवाह उड़ी कि चंदर सेठ एक कुंवारी अध्यापिका के प्रेम पाश में बंध गए हैं। जो दादरा गुलाबबाई 1930 से गा रही थीं, वह उन्हें अब अंतर्मन से व्यथित कर रहा था :

नदी नारे न जाओ श्याम पैंया पड़ूं।
नदी नारे गए तो जइबै करो,
बीच धारा न जाओ श्याम पैंया पड़ूं॥
बीच धारा गए तो जइबै करो,
उस पारा नजाओ श्याम पैंया पड़ूं॥
उस पारा गए तो जइबै करो,
संग सवतिया न लाओ श्याम पैंया पड़ूं॥
संग सवतिया जो लाये श्याम पैंया पड़ूं,
संग सवतिया न सोओ श्याम पैंया पड़ूं॥

सवाल उठता है कि जिस सौतन का दर्द अब गुलाबबाई ने महसूस किया, वैसा ही दर्द चंदर सेठ की पहली पत्नी ने शुरू में महसूस किया होगा जब उसने गुलाबबाई को अपनाया था। खैर...यह दादरा समूचे उत्तर भारत में अत्यंत लोकप्रिय था और है। गुलाबबाई की आवाज में इसे सुनकर (रेडियो या नौटंकी में) श्रोता झूम उठते थे। मैं खुद इस गाने का मुरीद था। वास्तव में, यह उत्तर प्रदेश का एक लोकगीत था। बाद में एक हिंदी फिल्म ने भी इस गाने का इस्तेमाल किया। मगर न तो उसने जनता का आभार जताया और न गुलाबबाई का। हिंदी फिल्म उद्योग हॉलीवुड, लोकनाट्य/लोकगीत आदि से कथा/गीत चुराने में महारत हासिल कर चुका है। एक दिन चंदर सेठ की पहली पत्नी गुलाबबाई के पास गई और उनसे अनुरोध किया कि वह नौटंकी की जिंदगी में वापिस लौट जाए : ''तुम कभी उनकी पत्नी नहीं कहलाओगी। समाज तुम्हें रखैल ही मानेगा। ...यह आदमी कभी किसी का न होगा। आज ये स्कूल टीचर के पास भाग रहा है। उसके लिए तुम्हें ठुकरा रहा है। कल तुम्हारी खातिर मुझे ठुराया था। यह हममें से किसी का नहीं है, न होगा।'' (पृ. 121) एक अफवाह यह भी फैली कि चंदर सेठ की पहली पत्नी गुलाबबाई को जहर दे देंगी। गुलाबाई ने सारी बात अपनी मां जहांगीरा को बताई और कन्नौज से कानपुर वापिस आकर अपनी बहन चहेतन के साथ काम करने लगीं। दूसरी ओर चंदर सेठ की पहली पत्नी ने अपने पति की शादी अपनी छोटी बहन से करवा दी। कहते हैं कि गुलाबबाई ने चंदर सेठ द्वारा दिया गया तीस तोला सोना उसे वापिस भेज दिया–यह उसके आत्मसम्मान और प्रलोभनहीनता का सूचक था। कई वर्षों के बाद गुलाबबाई की अचानक मुलाकात चंदर सेठ से हुई, तो उसने पूछा कि अपने बेटै की खोज खबर क्यों नहीं लेते? सेठ का दो टूक जवाब था–''उसकी इतनी मशहूर मां है। उसे मेरी जरूरत नहीं।'' (पृ. 125) दूसरी ओर एक बार रेल पटरी पर धक्का खाने से सुरेश को चोट लगी और उसका मानसिक संतुलन बिगड़ गया। गुलाबबाई फिर से नौटंकी की दुनिया में छा गईं। उनके गाने एच.एम.वी., ई.एम.आई. आदि कंपनियों ने रिकॉर्ड किए। नौटंकी में हारमोनियम और नगाड़ा (जिसकी आवाज दिल की धड़कन की तरह थी) प्रमुख वाद्य थे। उसकी भाषा सरल हिंदी-उर्दू-भोजपुरी-ब्रज-अवधी मिश्रित थी। हिंदी साहित्य में श्रेष्ठ और लोकप्रिय साहित्य के बीच हमेशा फांक रही है जो लेखिका के इस कथन से पुष्ट होता है : ''मिश्रित भाषा की वजह से नौटंकी को साहित्यिक सामग्री में नहीं गिना जाता था। किंतु नौटंकी पुस्तिकाओं को लोग खूब पढ़ते थे–हिंदी-उर्दू के उत्कृष्ट साहित्यिक उपन्यासों से कहीं अधिक। थोक विक्रेता सस्ते दाम में छपी इन नौटंकियों को तराजू में तौलकर दुकानदारों को बेच देते थे।...मिसाल के तौर पर कोई ग्राहक यह कह सकता था–मुझे बीस सेर नौटंकी किताबें देना।'' (पृ. 131)

एक बात और उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में कृष्ण लीला के अलावा औरतें दैनिक जीवन से जुड़ी भावनाओं को भी अपने गीतों में व्यक्त करती थीं। प्रायः ये गीत सम्मिलित रूप से महिलाओं द्वारा रचे जाते थे : ''औरतों द्वारा रचित, औरतों द्वारा सदियों से गाए, इन गीतों द्वारा औरतें दिल की बातें बेझिझक व्यक्त करती थीं। गीतों द्वारा वे एक दूसरे के साथ निजी अनुभव बांटती। इन गीतों को गुलाब अपने अंदाज में गातीं।'' (पृ. 132) यहां भी स्त्री-विमर्श का सूत्र है जो उत्तर-आधुनिक नारीवाद के नारे 'निजी राजनैतिक होता है' (पर्सनल इज पॉलिटिकल) का प्राक् रूप है जहां शारीरिक संबंध को खुलकर व्यक्त किया गया है इस दादरा में :

अकेली डर लागे रात मोरी अम्मा॥
जब रे सिपहिया ने घूंघट पट खोला।
नयन दोनों झुक गए रात मोरी अम्मा॥
जब रे सिपहिया ने चोलीबंद खोला।
जोवन दोनों डट गए रात मोरी अम्मा॥
जब रे सिपहिया ने मोर लहंगा पकड़ो।
भरतपुर लुट गए रात मोरी अम्मा॥
(पृ. 133)

कालांतर में गुलाबबाई और साथी कलाकार मास्टर राजा एक-दूसरे को चाहने लगे–राजा प्रायः नायक बनते थे और गुलाबबाई नायिका। राजा भी शादी-शुदा और बाल-बच्चेदार थे। वह मुसलमान थे मगर दोनों के रिश्तों में धर्म आड़े नहीं आया। नौटंकी थियेटर सभी जातियों-धर्मावलम्बियों के बीच खान-पान,

रहन-सहन में सहजता एवं समानता थी। गंगा-जमुनी संस्कृति वहां साकार होती थी। राजा से गुलाब को एक बेटी (आशा) पैदा हुई। दो साल बाद उन्हें बेटा हुआ—राजेंद्र। गुलाब ने अपने बच्चों को परवरिश के लिए अपनी मां के पास छोड़ दिया। एक बार अपनी बहन के इलाज के लिए गुलाबबाई ने तिरमोहन लाल से उधार मांगा मगर उन्होंने इंकार कर दिया। सो उन्होंने ग्रेट गुलाब थियेटर कंपनी की स्थापना कर ली। उसमें सत्तर कलाकार काम करने लगे। कभी-कभी ये संख्या 120 हो जाती थी। उसमें सात पर्दे होते थे। किसी पर जंगल का दृश्य, किसी पर राजा का दरबार, किसी पर युद्ध क्षेत्र आदि बना होता था। शो शुरू होने से पहले हर कलाकार गुलाबबाई से मिलता था। वह सबके पहनावे और तैयारी को परखती थीं। वह किसी अफसर के आने पर अपनी जगह से नहीं हिलती थीं। एक दारोगा के अशिष्ट व्यवहार के कारण सभी कलाकारों ने उसकी पिटाई कर दी और शिकायत की गई जिससे वह निलंबित हो गया। उसमें चुने हुए कलाकार रखे गए थे। मगर एक दिन एक कस्बे की सैर करने के लिए निकले राजा को एक ट्रक ने कुचल दिया। वह वहीं गुजर गए। इस कंपनी का सितारा पंद्रह-बीस साल तक बुलंद था मगर 1975 के आस-पास उसका पतन होने लगा। ज्ञातव्य है कि राजा की मौत के बाद गुलाब की मुलाकात पंजाब के एक भ्रमणशील सिनेमा कंपनी के मालिक बलबीर सिंह से हुई। दोनों के पेशों (नौटंकी और सिनेमा) में होड़ थीं। वह अंग्रेजी बोलने वाले मध्यवर्गीय शादीशुदा थे। बलबीर सिंह ने एक नई भ्रमणशील सिनेमा कंपनी भी बनाई। दोनों में प्यार हो गया और उन्हें एक बेटी (मधु) पैदा हुई 1961 में। वह गुलाब-मधु से मिलकर पंजाब चले जाते थे। मधु को एक आवासीय विद्यालय में भर्ती कराया गया मगर कुछ वर्षों में ही गुलाब की आर्थिक दशा बिगड़ गई और बलबीर सिंह उसका खर्च उठाने में आनाकानी करने लगे। दोनों में तकरार बढ़ गई। मधु ने कानपुर में बी.एस.सी. में प्रवेश लिया किंतु आर्थिक तंगी के कारण पढ़ाई पूरी नहीं कर सकी। आशा और मधु के दो-दो बेटे हैं। 1985 में गुलाबबाई को संगीत नाटक अकादेमी पुरस्कार मिला। नौटंकी में आए बदलाव को गणेश नंबरदार (नौटंकी वाले) यूं रेखांकित करते हैं : ''पहले लोग कला देखने नौटंकी में आते थे। फिर आकर्षक लड़कियों को देखने के लिए आने लगे। और आज अच्छे घर की लड़कियां घूम रहीं है। अपने को एक्सपोज करने के लिए। अब लोग नौटंकी में आते है नारी को 'खरीदने'। ...आज का माहौल है कि जब खुलेआम लड़कियां देखने को मिल रही हैं, तो आदमी पैसा खर्च करके क्यों देखने जाए?'' (पृ. 225) उन्नाव में आज भी नौटंकी

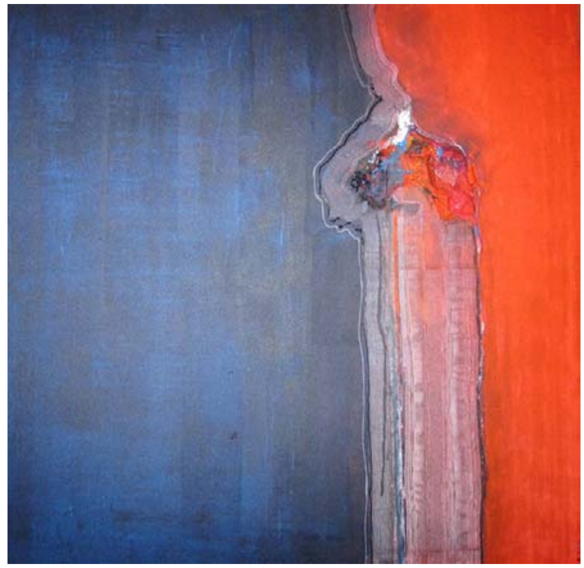

मंडलियां हैं मगर अब कला कम रह गई है, नाच ही नाच ज्यादा है। कृष्ण मोहन सक्सेना ने बांदा में नौटंकी कला केंद्र खोला है। इसने 2003 में 'नर्तकी की पीड़ा' नामक नौटंकी खेली जिसमें पुलिस, परिवार और ग्राहक सबको शोषक दिखाया गया। 2004 में हिंदी अकादमी (दिल्ली) से सौजन्य से त्रिवेणी सभागार में कृष्ण मुरारी माथुर एंड कंपनी ने 'अमर सिंह राठौर' नामक खेला मंचित किया। उसके दर्शक खचाखच भरे थे। इसने हाथरस शैली की नौटंकी पेश की। यद्यपि यह तथ्य इस पुस्तक में दर्ज नहीं है, 2010 के मध्य में हिंदी अकादमी (दिल्ली) ने गुलाबबाई की बेटी मधु अग्रवाल से 'राजा हरिश्चंद्र' नौटंकी मंचित कराई कानपुर शैली में। मैं खुद दर्शक था और हरिश्चंद्र-तारामती के कारुणिक दृश्यों से द्रवित होकर मैं कई बार रोता रहा। यह उल्लेखनीय है कि हिंदी फिल्मों के निर्देशक रणजीत कपूर, अभिनेता रघुवीर यादव और कव्वाली गायक शंकर-शंभु नौटंकी की देन है। लेखिका ने मॉरिशस में नेहरू केंद्र में मधु द्वारा जुलाई 2004 में मंचित कानपुर शैली की नौटंकी को मिली सराहना से इस पुस्तक का अंत किया है। यह पुस्तक तीन भागों में और छब्बीस अध्यायों में कुल 282 पृष्ठों में फैली है। यह पहले उसी लेखिका द्वारा (मूल में) अंग्रेजी में लिखी गई थी और उसका हिंदी अनुवाद लेखिका ने खुद किया है और कुछ नई चीजें जोड़ी हैं। मगर वर्तनी की कई भयानक अशुद्धियां हैं जैसे, वृहदाकार को 'वृद्धाकार' (पृ. 245), जज्बात को 'जज्बातों' (पृ. 198, 174, 142, 86, 4), बनिस्बत को 'बनिस्पत' (पृ. 180), व्यावसायिक को 'व्यवसायिक' (पृ. 174), बहराइच को 'बहरैच' (पृ. 142), अतिशयोक्ति को 'अतिश्योक्ति' (पृ. 126), परिणत को 'परिणित' (पृ. 122), नीयत को 'नियत' (पृ. 102), ननद को 'नन्द' (पृ. 103), प्रस्तुति को 'प्रस्तुती' (पृ. 100), पीने के आदी को 'आदि' (पृ. 96), गाड़े को 'गाढ़े' (पृ. 58), ऊब को 'ऊबन' (पृ. 4) लिखकर हिंदी भाषा का सत्यानाश कर दिया गया है। यह दुर्भाग्य है कि हिंदी प्रकाशकों की तरह पेंगुइन यात्रा बुक्स ने भी प्रूफ की तमाम अशुद्धियां छाप दीं मानो प्रूफ की अशुद्धियां छापना सभी प्रकाशकों का जन्मसिद्ध अधिकार है। कुछ प्रसंगों यथा बेड़िया समुदाय के महिलाओं द्वारा ही जीविका चलाने और पुरुषों के निकम्मे होने की बात कई बार दुहराई गई है। फिर भी नौटंकी जैसी पारंपरिक नाट्य की लोक कला के महत्त्वपूर्ण विषय पर लिखी गई यह पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है। इस पुस्तक का आवरण अत्यंत मोहक है मगर भीतर प्रयुक्त कागज की गुणवत्ता खराब है—आखिर अखबारी कागज की अपनी सीमा है।

नौटंकी की मलिका : गुलाबबाई/दीप्तिप्रिया महरोत्रा/ पेंगुइन यात्रा बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017/ ₹ 199

डी-71, निवेदिता कुंज, आर. के. पुरम, सेक्टर-10, नई दिल्ली-110022 फोन : 011-26162591

एक विरल सर्जनशीलता

नंदकिशोर नवल

जगदीश नारायण चौबे को मैं एक कवि के रूप में जानता था। उनके दो कविता-संग्रह भी प्रकाशित हैं। लेकिन उनके निबंध-संग्रह 'स्कूल खोला जाए' के माध्यम से मेरा साक्षात्कार उनके निबंधकार-रूप से हुआ, जिसे वे अब तक छिपाए हुए थे। उनका उक्त संग्रह पढ़कर मैं विस्मित रह गया। वह इसलिए कि उसके निबंध हास्य-व्यंग्यपरक हैं। मुझे पहले से जरा-भी आभास नहीं था कि विश्वविद्यालय-सेवा से मुक्त होने के बाद उनकी सर्जनशीलता अपनी उपयुक्त अभिव्यक्ति का यह मार्ग तलाश करेगी और हमें अचानक उसका विस्फोट देखने को मिलेगा।

खड़ीबोली में हास्य-व्यंग्य उपेक्षित रहा है—'ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत'। ले-देकर कविता में नागार्जुन और गद्य में हरिशंकर परसाई हमारे पास हैं। इधर ज्ञान चतुर्वेदी में हास्य-व्यंग्य की संभावना दिखी थी, लेकिन उन्होंने अपने दिलचस्प उपन्यास 'बारामासी' में श्रीलाल शुक्ल के प्रसिद्ध उपन्यास 'राग दरबारी' की शैली का अनुकरण कर उसका महत्त्व स्वयं कम कर दिया। चौबेजी के निबंध पढ़ने के बाद पाठक महसूस करता है कि हास्य-व्यंग्य उनकी रग-रग में भरा है। नागार्जुन और परसाई राजनीति-विशेष से प्रतिबद्ध थे, लेकिन चौबेजी के साथ ऐसी कोई बात नहीं है। उनका रुझान सामाजिक है। स्वभावतः वे समाज में फैले भ्रष्टाचार, चतुराइयों और अर्थोपाजन की नई-नई विधियों पर बहुत सलीके से चोट करते हैं। मारते हैं, लेकिन रोने नहीं देते, हंसा देते हैं, या होंठो पर मुस्कुराहट ला देते हैं। उन्हें कोई जल्दी नहीं है और वे न अर्थ की चिंता से प्रेरित हैं, न यश की चिंता से। चुपचाप लिखते हैं और अब जब उनकी पुस्तकें छपने लगी हैं, पढ़ने वाले को अपना मुरीद बना लेते हैं। यहीं मैं निवेदन कर दूं कि हास्य-व्यंग्य का अस्त्र कोई मामूली अस्त्र नहीं है। लूनाचार्स्की ने कहा था कि उससे तानाशाह भी डरते हैं। उसके शब्द हैं : 'द लाफ्टर इज विक्ट्री'।

'स्कूल खोला जाए' के निबंध दो प्रकार के हैं—लंबे और अपेक्षाकृत छोटे। लंबे निबंधों में 'इंडिया हार गया', 'जीनियस', 'धाराप्रवाह अंग्रेजी सीखिए', 'जियो एन जियो' और 'स्कूल खोला जाए', लजबाब है। 'इंडिया हार गया' में भारतीय जनता के सिर पर सवार क्रिकेट के भूत को लेखक ने बहुत ही कायदे से उतारने की कोशिश की है। 'जीनियस' का आरंभ देखिए, जिससे उसकी

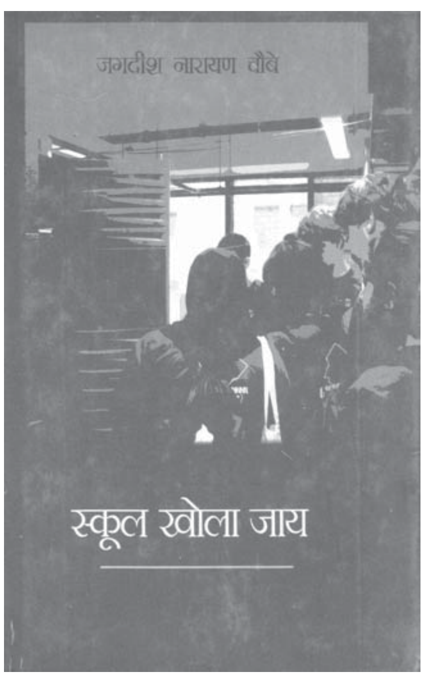

मौलिक शैली का पता चलता है : ''तब पढ़ने का रिवाज नहीं था। बिरला ही पढ़ पाता था। बरामदे पर चार मूंछें हों, गोशाले में चार पूंछें हों तो फिर क्या चाहिए? आंगन में ओखल-समाठ, लोढ़ा-पाटी, जांता, एक कुआं और कोने में तुलसी चौरा। सुख समृद्धि के ये लक्षण जिस घर में मौजूद हों, उसे गांव वाले लक्ष्मीनिवास कहते थे। इस लक्ष्मीनिवास में बाबू दशरथ सिंह निवास करते थे।'' इन्हीं बाबू दशरथ सिंह के पुत्र रामलखन हुए, जिन्होंने अपने जीनियस का अपनी हैसियत बढ़ाने के लिए ऐसा इस्तेमाल किया कि देखकर लोहा मान जाना पड़ता है। 'धाराप्रवाह अंग्रेजी सीखिए' ऐसे कोचिंग सेंटर्स की असलियत उजागर करता है, जो ऊंची फीस लेकर धाराप्रवाह अंग्रेजी बोलना सिखलाने का दावा करते हैं। तीन अलग-अलग स्थानों के तीन छात्र ऐसे एक सेंटर में दाखिला लेते हैं और धाराप्रवाह अंग्रेजी सीखने की जगह वर्षा के धाराप्रवाह जल में बह जाते हैं। 'जियो एन जियो' में एक विनोबा-आश्रम के 'स्वर्णाश्रम' में बदलने की कथा है, जिसे छोटा भाई चंद्र बड़े भाई सूर्य से उसी तरीके का इस्तेमाल कर छीन लेता है, जिस तरीके का इस्तेमाल कर सूर्य ने उसे अपने पिता से लिया था। लेखक निबंध के अंत में कहता है : 'स्वर्णाश्रम में सूर्यास्त के बाद चंद्रदोदय हो रहा था।' आजकल शिक्षा का व्यवसायीकरण जोरों पर है। निजी स्कूल खोलकर बड़ी आसानी से अपार धन अर्जित किया जा सकता है, जिसमें काले धन से संबंधित कोई बखेड़ा नहीं है। इसका वृत्तांत आप 'स्कूल खोला जाए' शीर्षक निबंध में पढ़िए।

चौबेजी की एक बड़ी खूबी है कि वे जिस विषय पर कलम चलाते हैं, उसकी

जानकारी तफसील में रखते हैं। 'स्कूल' वाले निबंध में शर्मा 'ज्ञानोदय' नाम से स्कूल खोलने का धंधा करने वालों से पूछता है कि 'नाम तो सीधे नहीं लिखा जाएगा?' उनमें से एक सज्जन उत्तर देते हैं : ''नहीं। कभी भी सीधे नाम नहीं लिखा जाता है आजकल चार महीना पहले अखबार में निकालिए कि दिसंबर के तीसरे रविवार को नाम लिखाने के लिए जांच परीक्षा होगी। नवंबर के पहले सप्ताह में रजिस्ट्रेशन कराना होगा। ढाई सौ रुपये देकर रजिस्ट्रेशन कराएं। बच्चे के तीन फोटो लगेंगे। जन्म के प्रमाणपत्र की फोटो कॉपी देनी होगी। जांच परीक्षा के लिए तीन सौ रुपये फीस के लगेंगे। नौ बजे सुबह से दस बजे तक परीक्षा होगी। रिजल्ट जनवरी के अंतिम सप्ताह में निकलेंगे। फरवरी के दूसरे सप्ताह में इंटरव्यू होगा और इसका रिजल्ट मार्च के पहले सप्ताह में निकलेगा। उतीर्ण छात्र के अभिभावक कार्यालय से संपर्क करेंगे। दूसरी अप्रैल से पढ़ाई शुरू हो जाएगी।'' ये वस्तुतः भ्रष्टाचार की एक-दो परतें हैं। आगे लेखक और परतों को प्याज के छिल्कों की तरह उतारता चलता है ओर उसी की तरह अंत में हाथ कुछ नहीं लगता, यानी भ्रष्टाचारी न केवल साफ बचकर निकल जाता है, बल्कि उसे विपुल मात्रा में समाज में नाम-यश की प्राप्ति होती है। वह इसलिए कि वह शिक्षा के प्रति समर्पित होता है!

'एसी की ऐसी-तैसी! 'दो अजूबे', 'सुझाव पेटी', 'हजामत कैसी-कैसी', 'हमारी प्यारी सड़क', 'मोबाइल', 'लेखक संग' और ''एम' फैक्टर' इस संग्रह के अपेक्षाकृत छोटे निबंध हैं। प्रायः इन सभी निबंधों में हास्य-व्यंग्य के छींटे उड़ते हैं, लेकिन मुझे इनमें पहला निबंध सबसे अधिक मजेदार लगा है। इसमें शुद्ध हास्य है, जो ऊब और घुटन से भरे हुए माहौल में हमें थोड़ी देर के लिए राहत देता है। मैं चौबेजी के निबंधों में से कुछ सुभाषित उद्धृत करना चाहता हूं, जिनसे उनके लहजे का पूरा परिचय मिल जाता है, यथा 'लगभग दस दिनों तक धरना देते रहें वहीं लाइन पर। गाड़ी आए तो उठ जाएं और चली जाए तो लेट जाएं', 'इन्होंने भी चाहा कि बहती गंगा में हाथ धो लें। हाथ क्या धोएं नहा ही लें', 'प्याज ससुरा

है भी खुराफाती! छुओ तो आंसू गिरे और न छुओ तो सरकार गिरे!', 'तीन ही गाढ़े गमछे मिले बाकी सब मच्छरदानी–जैसे थे' आदि। इस पुस्तक में भी काव्योपम सचित्र वर्णन मिलते हैं, जिन्हें पढ़कर तबीयत फड़क उठती है। एक उदाहरण इसका भी : ''आजकल कोई भी भरोसा करने लायक नहीं है। मौसम तो बिलकुल नहीं, अब देखिए, कल दिन-भर चकाचक धूप रही। रात भी टकाटक चांदनी में तारे कौड़ी खेल रहे थे। फिर किस वक्त आंधी आकर सब तहस-नहस कर गई, पता नहीं नहीं चला। साथ में बारिश भी हुई भी। लगता है, खूब जोर से हुई थी। गली में पानी जम गया है। पत्ते नाचते हुए बहते जा रहे हैं।'' परसाईजी हास्य-व्यंग्य के लिए कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि सभी विधाओं का उपयोग करते थे और सबों को फैंटेसी का स्पर्श प्रदान कर देते थे। चौबेजी की मूल प्रतिभा कथाकार की है, जिसमें वे कभी-कभी कलात्मक अतिरंजना से काम लेते हैं।

स्कूल खोला जाए/जगदीश नारायण चौबे/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, ₹ 175

घाघा घाट रोड, महेंद्रू, पटना-800006,
मो. 09334343483

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में म.गां.अं. हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं। इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

कुंदन सहगल जीवन और संगीत में

राजेन्द्र उपाध्याय

कुंदनलाल सहगल की हम जन्मशती मना चुके हैं और उन्हें गए भी 58 साल से अधिक हो चुके हैं, फिर भी वे संगीत प्रेमियों के दिलों पर राज कर रहे हैं। अपने मधुर कंठहार से वे लाखों करोड़ों सिनेप्रेमियों और सिनेसंगीत प्रेमियों के कंठहार बने हुए हैं। अपने सुमधुर गले और अभिनय प्रतिभा के बल पर कुंदनलाल सहगल ने भारतीय रजतपट पर एकछत्र राज किया था। हिंदी सिनेमा के शीर्ष कलाकार के रूप में उनकी कला-यात्रा 1935 में न्यू थियेटर से कलकत्ता की बांग्ला फिल्म 'देवदास' के साथ शुरू हुई थीं। 1937 में प्रदर्शित अपनी पहली बांग्ला फिल्म 'दीदी' की रिलीज के साथ वे बांग्ला सभ्रांत समाज के भी हृदय सम्राट बन गए। उनका बांग्ला गायन सुनकर गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा था–''की शुंदर गला तोमार, आगने जानले कोतोई न आनंद पेताम (तुम्हारा गला कितना सुंदर है। पहले पता होता तो कितना आनंद पाता)

यह आश्चर्यजनक ही है कि अपनी मृत्यु के बाद सहगल लगभग भुला दिए गए। एक पियक्कड़ गायक अभिनेता कहकर उन्हें खारिज कर दिया गया। जबकि उनका जीवन कितना संघर्षपूर्ण मार्मिक और दुखभरा था। शरद दत्त ने उनके जीवन के अनेक मार्मिक कोनों-अंतरों में घुसने का प्रयास किया है। एक तरह से उन्होंने कोयले की खदान में उतरकर वहां छिपे हीरे को ढूँढ़ निकाला है।

इस कालजयी गायक-अभिनेता के जीवन और संगीत पर कोई प्रामाणिक तथा विधिवत अध्ययन पहले कभी नहीं किया गया, न हिंदी में और न ही अंग्रेजी में। अन्य भारतीय भाषाओं में भी यह काम शायद नहीं हुआ है। इस दृष्टि से शरद दत्त की यह पुस्तक पहली और एकमात्र व्यवस्थित जीवनी है, जिसके लिए लेखक ने हाड़तोड़ परिश्रम किया है। न केवल उनकी सभी फिल्में देखीं, गानों की रिकार्डिंग हासिल की, पुरानी फिल्मी पत्रिकाओं की खाक छानी और सहगल के मित्रों-रिश्तेदारों (जो भी जीवित मिलें) से संपर्क किया। बातचीत की और उनकी एक मुकम्मल जीवनी तैयार की। न्यू थियेटर्स के मालिक दिलीप कुमार सरकार, फिल्म निर्देशक तपन सिन्हा और केदार शर्मा, संगीतकार नौशाद, अभिनेता जयराज और के.एन.सिंह तथा हिदुस्तान रिकॉर्ड कंपनी के एस.एल.साहा. से व्यक्तिगत संपर्क किया। सहगल के जीवन से संबंधित अनेक दुर्लभ प्रसंग और श्वेतश्याम चित्र इस पुस्तक को विशेष रूप से संग्रहणीय एवं मूल्यवान बनाते हैं।

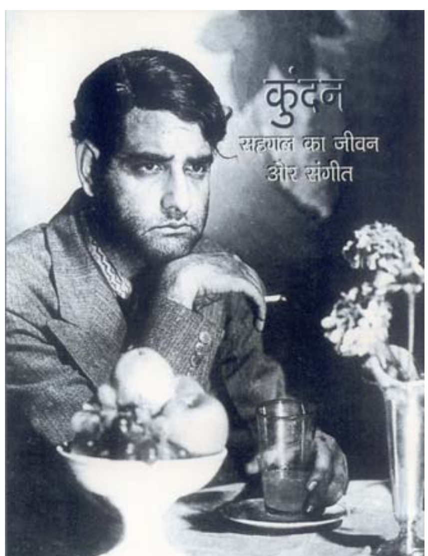

लेखक ने इस पुस्तक का नाम कुंदन ठीक ही रखा है। ''कुंदन दरअसल सोने का शुद्धतम रूप होता है। सामान्य सोने को अनेक बार तपाने-गलाने के बाद धातु का जो रूप बनता है वही कुंदन कहलाता है। आम सोने की आभा कुछ समय बाद (बरतते-बरतते) मंद पड़ जाती है, मगर कुंदन की आभा पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस्तेमाल करने के बाद भी मंद नहीं पड़ती। कुंदन का यही गुण कुंदनलाल सहगल में मूर्तिमान दिखता है। अथिक संघर्षों के बीच से गुजरकर उन्होंने गायक अभिनेता का, जो व्यक्तित्व अर्जित किया, उसका सम्मोहन आज उनकी मृत्यु के 58 वर्षों बाद भी न केवल बरकरार है बल्कि दिन-पर-दिन बढ़ता ही जा रहा है। उनका फिल्मी सफर सिर्फ 16 बरस का रहा और इन 16 वर्षों में उन्होंने हिंदी की 27 और बांग्ला 7 मिलाकर कुल 34 फिल्मों में काम किया। उन्होंने फिल्मी तथा गैर-फिल्मी कुल 176 गाने गाए। इतना कम काम करके इतनी ख्याति अर्जित करने वाला अब तक दूसरा और कोई कुंदन नहीं हुआ।

जम्मू में 4 अप्रैल 1904 को जन्मे कुंदन को ज्यादा लंबा जीवन नहीं मिला। 18 जनवरी 1947 को जालंधर में कुंदन बुझ गया। कुंदन का इंतकाल हो गया। आजादी से पहले ही कुंदन गुजर गए। कुंदन शुरू से ही मां से भजन और लोरी गीत सुनकर बड़ा हुआ था। मां के भजन और लोरी गीत की नकल हू-ब-हू कर देता था। बाद में लोकगायकों, गूजरियां, सूफी पीढ़ी से संगीत आत्मसात कर लेता था। पीर बाबा की मज़ार पर कुंदन ने संगीत सीखा।

जम्मू से जालंधर और जालंधर से दिल्ली। दिल्ली में हमारा यह महान गायक बिजली विभाग में इलेक्ट्रीशियन था और दिल्ली छावनी में मिलिटरी इंजीनियरिंग सर्विस में शिफ्ट अटैंडेंट भी रहा। कुछ समय दिल्ली स्टेशन पर टाईमकीपर रहने के बाद मुरादाबाद में रेलवे में क्लर्क हो गए। मुरादाबाद में फिल्म अभिनेता पहाड़ी सान्याल ने कुंदन की प्रतिभा पहचानी।

शिमला में कुंदन की प्रतिभा परवान चढ़ी। वहां के रईसों ने उन्हें हाथोंहाथ लिया। गायन प्रधान नाटकों में वे अभिनय करने लगे। दिल्ली आकर वे रेमिंग्टन कंपनी में टूरिंग सेल्समैन हो गए। चंडीदास, देवदास, करोड़पति, प्रेजीडेंट, धरतीमाता, स्ट्रीट की जुबान पर उनका नाम चढ़ गया। वे हिंदी सिनेमा के पहले सुपर सिंगिग स्टार थे। यश, धन-वैभव और मानसम्मान के शिखर पर थे वे। न्यू थियेटर्स के बाद रणजीत मूवीर्टार ने उन्हें उस जमाने में एक लाख रुपये के अनुबंध पर रखा था।

लेखक ने बड़ी परिश्रम से कुंदन की फिल्मों, उनमें गाए गीतों की सूची शायर सहित दी है। यह सामग्री बड़े काम की है।

कुंदन सहगल का जीवन और संगीत/शरददत्त, पेंगुइन यात्रा बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, दिल्ली-110017, ₹ 150

62 बी-लॉ अपार्टमेंट्स, ए.जी.सी.आर.एन्क्लेव, दिल्ली-110092, फोन 011-22372615, मो. 9312147051

शब्दों के साथ कला की यात्रा

सुनील कुमार यादव

'पार रूप के' यानि कला के वास्तविक जगत से साक्षात्कार ''रूप कला की अभिव्यक्ति हो सकती है। लेकिन यह कला नहीं है। इसलिए 'पार रूप के' इस स्तंभ का नामकरण इसलिए किया गया कि रूप की पहचान हो सके, असली रूप की। यह रूप, शब्द में होते हुए शब्द के परे है, रंगों और रेखाओं में दीखता हुआ भी कहीं उससे बहुत आगे है, तराशे हुए पत्थरों के मनोरम शिल्पों और भव्य मंदिरों की सरणियों में दृश्यमान रहते हुए भी वहां विद्यमान है जहां मनुष्य की संवेदना अपने उत्कर्ष को छू लेती है।'' (पृ. 19)

'भारतीय चित्रांकन परंपरा' की मौलिक समीक्षा के लिए चर्चित नर्मदा प्रसाद उपाध्याय के आलेखों का संग्रह है–'पार रूप के'। 'मनस्वी' पत्रिका में धारावाहिक आलेख छपते रहे हैं। ''ये निबंध शोध की दृष्टि से नहीं लिखे गए हैं, इनका मूल स्वर अपनी धरोहर से ऐसे सुधी पाठकों को परिचित कराना है जिनके पास एक दृष्टि है और जानने का कौतुहल भी।'' (भूमिका से)

भारतीय लघुचित्रों के बारे में हिंदी में बहुत कम लिखा गया। इस दृष्टिकोण से नर्मदा प्रसाद उपाध्याय के प्रयास सराहनीय हैं। इसका पहला लेख पं. विद्यानिवास मिश्र के कला व्यक्तित्व और उनके रूप के पार तक झांक लेने की क्षमता तथा उनके द्वारा कला एवं दूसरे अनुशासनों के बीच रामेश्वरम् तक पहुंचने की है। उपाध्याय जी लिखते हैं कि ''उनकी आसक्ति प्रिय में नहीं प्रेम में थी। प्रेम उनका स्वभाव बन गया था और इसी स्वभाव ने उनको कला पुरुष बना दिया।'' (पृ. 18)

कला तो रूठने वाली लड़कियों की तरह होती है। वह स्वयं जन्म लेती है और फिर नए संसार को जन्म देने लगती है। दादा माखनलाल चतुर्वेदी के इस वाक्य से दूसरा लेख शुरू होता है। सौंदर्य की अवधारणाओं का प्रत्याख्यान करते हुए लेखक लिखता है कि सौंदर्य भारतीय विचारकों की तरह ''पश्चिम के विचारकों के लिए भी निरे भौतिकवाद का पर्याय नहीं रहा। उनकी दृष्टि भी रूप के पार गई।'' (पृ. 21) इसके उदाहरण स्वरूप ''लियोनार्दो दा विंची' की 'मोनालिजा' और किशन गढ़ कलम की निहाल चंद की तूलिका से कई मायनों में भिन्न हो सकती हैं लेकिन 'मोनालिजा' की मुस्कान और 'वणी-ठणी' की लाज को रूप देते समय दोनों कलाकार रूप की सीमाओं से पार चले गए होंगे।'' (पृ. 22)

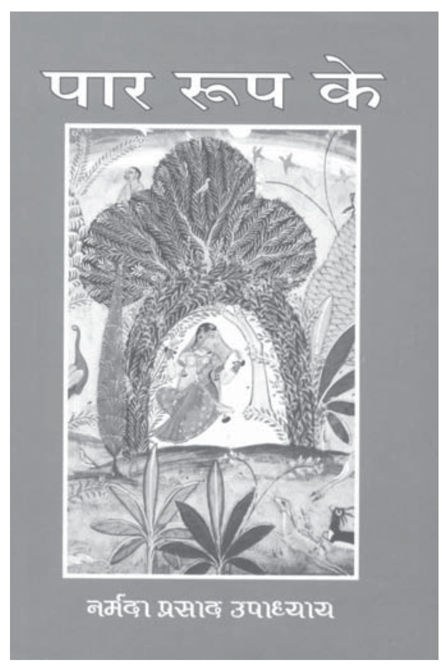

'अंग-अंग नए जगमग' में सौंदर्य की भारतीय दृष्टि की लोकमंगलकारी रूप की पहचान करते हुए लेखक लिखता है ''भारतीय दर्शन परंपरा में सौंदर्य-बोध का अर्थ देह तक या सज्जा तक सीमित नहीं रहा है। यहां सौंदर्य की अपेक्षा लावण्य की प्रतिष्ठा पर जोर दिया गया है।...जबकि पश्चिम की सौंदर्य दृष्टि में ऐसी गहराई और ऐसी विविधता देखने को नहीं मिलती।''

लेखक भारतीय एवं पाश्चात्य सौंदर्य दृष्टियों का अंतर करते हुए यह दिखाता है कि 'भारतीय अवधारणा में जोर व्यक्ति के व्यक्तित्व पर है, जबकि पाश्चात्य अवधारणाओं में व्यक्ति-चित्र ही ज्यादा मिलते हैं।

'सेनुरवा न भीजइ हो...।' भारतीय लोकगीतों के सौंदर्यबोध पर उत्कृष्ट निबंध है। निवाड़ी, मालवी तथा भोजपुरी आदि लोकगीतों से गुजरते हुए निबंधकार उनके सौंदर्यबोध तथा भावों का गहराई से परिचित कराता है। इन गीतों में ''सुहाग पर, उसके अक्षुण्ण बने रहने पर अगाध भरोसा है। देह के अंग सौष्ठव में, शृंगार की उत्कट भंगिमाओं में, प्रेम के बाह्य प्रदर्शन में वह सौंदर्य नहीं खोजती। वह सिंदूर की लालिमा और शुक्र तारे की तेजस्विता में सुंदरता के ताने बाने चुनती है।'' (पृ. 34)

शकुंतला, राधा और सीता भारतीय सौंदर्य की ऐसी प्रतिमान रही है, जिन पर अलग-अलग कला दृष्टियों के माध्यम से चित्र बनाए गए।' इन पर बने चित्रों के माध्यम से हम भारतीय सौंदर्य दृष्टि की वास्तविक पहचान कर सकते हैं। राधा के रूपांकन के बारे में लेखक लिखता है : ''कश्मीर से लेकर बांग्ला की कालीघाट शैली में और अवध से लेकर भारत के पूर्वोत्तर अंचल की शैली में राधा के अगणित रूपांतर हुए।'' वास्तव में रंगों में रचे राधा शकुंतला तथा सीता के चित्र चित्रकला के इतिहास में अमिट हैं।

काल के परिवर्तन के साथ चित्रांकन में विविधता एवं परिवर्तन देखने को मिलता है इसीलिए कला को बांधा नहीं जा सकता। वह खुलकर स्वछंद होकर अपना विकास करती है, जरूरत है अपनी दृष्टियों में फैलाव की। नर्मदा प्रसाद उपाध्याय इसमें सफल रहे हैं। इसी दृष्टि से वे मध्यकालीन आंचलिक लघुचित्रों से लेकर मध्यप्रदेश की मध्यकालीन चित्र शैलियों का विहंगम सिंहावलोकन कराते हैं।

'रूप और रूप से पार का चमत्कार', 'रूप का अनुपम पारखी : जहांगीर', 'शाहजहानी मुगल क़लम : रूप का एक और रूप', 'मुगल काल का अंतिम दौर' ये सारे निबंध मुगलों के आगमन के बाद बाबर से लेकर मुहम्मद शाह 'रंगीले' तक के मुगलकालीन क़लम की दास्तान कहते हैं। मुगलकालीन कलम का सच्चा जन्मदाता अकबर, जिसे रायकृष्ण दास ने 'विभूतिमरसत्व' का विशेषण दिया था, ने 'चित्रकला ही नहीं, स्थापत्य कला को भी नई ऊंचाई दी।' ''जहांगीरकालीन कला मुगल क़लम का शीर्ष है। जिसके सामांतर कोई दूसरा शीर्ष नहीं है।'' (पृ. 140) जहांगीर के समय समन्वय की एक ऐसी शैली विकसित हुई, जो उसकी सुरुचि पूर्ण मनोवृत्ति और प्रकृति के प्रति उसकी अभिरुचि व जिज्ञासा को प्रकट करती है।

शाहजहां के समय रूप की मौलिकता पर बल दिया गया। उसके अभागे पुत्र दाराशिकोह के समय बनवाए गए चित्रों में तड़क-भड़क तथा वैभव का प्रदर्शन नहीं है। इसके काल के चित्र जहांगीर के निसर्ग केंद्रित चित्रण से बिल्कुल भिन्न समग्र एवं उदार दृष्टि लिए हुए गहरे अध्यात्म से प्रेरित हैं। दारा शिकोह के बाद मुगल क़लम मनोरंजन और विलासिता से बाहर नहीं आ पाई। ''मुगल कलम के विषय लोक के विषय नहीं हैं।...इसमें व्यक्ति चित्र एवं सबीहे बहुत बनी हैं। (पृ. 168) व्यक्ति चित्र पाश्चात्य सौंदर्य से प्रभावित लगते हैं। इस काल की क़लम की सबसे अद्भुत विशेषता इसकी सामासिकता है।

भारत के बाहर भारत के लघुचित्रों के प्रति दिवानगी तथा संग्रहण पर उनका निबंध है 'रूप की यात्रा', 'जिसमें आस्ट्रेलिया के 'नेशनल आर्ट गैलरी ऑफ आस्ट्रेलिया' के प्रयासों तथा जुनून की कहानी है। वहां के कला मर्मज्ञों पर लिखते हुए निबंधकार यह चिंता भी व्यक्त करता है कि भारत में ऐसे जुनूनी कला संग्रहकर्ताओं की कमी रही है।

'कहानी रूप के मर्म' की और 'धरोहर

रूप की' यह दो निबंध कला के संग्रह को तथा जनूनी व्यक्तित्वों पर है। डॉ आनंद कुमार स्वामी, रायकृष्ण दास, विश्वनाथ काशी नाथ राजवाड़े, गोपीकृष्ण कनौडिया आदि कला मर्मज्ञों के कला संग्रहण तथा उसको बचा लेने की जिद् की कहानी निबंधकार ने संस्मरण की तर्ज पर कहा है।

किताब के अंत में चित्रविथिका दी गई है जिसमें 'मध्यभारत के मध्यकालीन चित्र शैलियों के प्रतिनिधि चित्र दिए गए हैं।' साथ ही निबंधकार यह भी दावा करता है कि ये सभी चित्र कला जगत के समक्ष पहली बार आ रहे हैं।

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय कला के सौंदर्य में डूबते हुए निश्चित ही रूप के पार चले जाते हैं, जहां उनकी भाषा कला की ही तरह लालित्य के साथ उपस्थित होती है। मुक्तिबोध ने 'तीसरा क्षण' निबंध लिखते हुए जिस भाव एवं भाषा के द्वंद्व की बात कही थी, उसमें उपाध्याय जी खरे उतरते हैं। विषय के अनुसार उनकी भाषा भी पाठकों को पार रूप के ले जाती है और विषय से बांधे रखती है। वे लिखते हैं ''कला के पास सृष्टि नहीं होती। सिर्फ दृष्टि होती है। और उस दृष्टि को, जो दृष्टा आत्मसात कर लेता है, वही कलाकार हो जाता है।''

पार रूप के/नर्मदा प्रसाद उपाध्याय/मनस्वी प्रकाशन, हरदा (मध्यप्रदेश) / ₹ 500

शोधछात्र, साहित्य विद्यापीठ, म.गां.अं.हि.वि.वि., गांधी हिल्स, पो. मानस मंदिर, वर्धा (महाराष्ट्र)

प्रेमचंद पर नई खोज!

भारत यायावर

*(डॉ. कमलकिशोर गोयनका के संपादन में अभी साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'प्रेमचंद कहानी रचनावली' (छह खंड) के अनुसार खुद प्रेमचंद ने 'मानसरोवर' के दो खंड निकाले थे। शेष छह खंडों का संपादन श्रीपतराय ने किया था। इस रचनावली में प्रेमचंद की 298 कहानियां संकलित हैं जबकि 'मानसरोवर' के आठ खंडों में संकलित कहानियों की संख्या 224 थी। **–संपादक**)*

प्रेमचंद हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सम्मानित कथाकार हैं। उन पर लगातार खोज-अनुसंधान होता रहा है, बहसें होती रहती हैं। प्रेमचंद पर पहली पुस्तक जर्नादन प्रसाद झा द्विज ने लिखी–'प्रेमचंद' जो 1933 ई. में प्रकाशित हुई। डॉ. रामविलास शर्मा की पहली पुस्तक निराला पर नहीं, प्रेमचंद पर थी जो 1941 में प्रकाशित हुई। प्रेमचंद पर पहला शोध-परक कार्य अमृत राय ने किया। उन्होंने सबसे पहले उनकी विलुप्त कृतियों की खोज की। उनकी संपूर्ण कहानियों को 'मानसरोवर' नामक आठ खंडों में संकलित-संपादित कर प्रकाशित किया। इसके बाद मिली कहानियों को 'गुप्त-धन' नामक दो खंडों में संकलित किया। उनके लेखों को तीन खंडों में 'विविध प्रसंग' नाम से संकलित-प्रकाशित किया। उनके पत्रों को दो खंडों में संकलित कर 'चिट्ठी-पत्री' नाम से प्रकाशित किया। इसके अलावा भी बहुत सारी रचनाएं उनकी रह गई थीं, जिन्हें कमल किशोर गोयनका ने प्रेमचंद का अप्राप्य-साहित्य नाम से संकलित-संपादित किया। अमृत राय ने प्रेमचंद के पहले उपन्यास 'असरारे मआबिद' जो बनारस के उर्दू साप्ताहिक 'आवाज़े-खल्क' के अक्टूबर-नंबवर, 1903 ई. में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था, को 1962 ई. में देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया। यह प्रेमचंद का लिखा पहला उपन्यास था। 1906 ई. में 'हमखुर्मा व हमसबाब' नामक उपन्यास छपा, जिसका हिंदी रूप 'प्रेमा' नाम से 1907 ई. में इंडियन प्रेस, प्रयाग में छपा। उनका तीसरा उपन्यास उर्दू में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ–'जलवा-ए-ईसार'। प्रेमचंद का चौथा उपन्यास 'किशना' है, जो 1913 ई. में प्रकाशित हुआ था। प्रेमचंद के खोजी लोग अब तक इस उपन्यास को खोज नहीं पाए हैं। प्रेमचंद के बाद के उपन्यास इतने चर्चित हैं कि उनके विषय में ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। हां, यहां यह सूचित करना आवश्यक है कि 'प्रेमा' उपन्यास की कथा को उन्होंने दोबारा नए ढंग से लिखकर एक नया ही उपन्यास तैयार किया था जो 'प्रतिज्ञा' नाम से मासिक पत्रिका 'चांद' के जनवरी, 1927 से नवंबर, 1927 ई. तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। ऐसा प्रेमचंद ने पहली बार किया था। 'प्रेमा' 'प्रतिमा' बनकर ज्यादा निखर गई थी।

अमृत राय ने प्रेमचंद की जीवनी लिखी 'कलम का सिपाही' और मदन गोपाल ने 'कलम का मजदूर : प्रेमचंद'। ये दोनों जीवनियां हिंदी साहित्य में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं।

कमल किशोर गोयनका ने प्रेमचंद के विषय में स्थापित कई मान्यताओं को तोड़ने की कोशिश की, जिनमें प्रमुख ये बातें हैं–प्रेमंचद समाजवादी विचारधारा के नहीं थे, वे गरीब नहीं थे, इसलिए अंगूर खाते थे। शैलेश जैदी ने अपने शोध में यह स्थापित किया कि प्रेमचंद सांप्रदायिक विचारधारा के थे। इधर एक नए आलोचक उभरे है–धर्मवीर। इन्होंने प्रेमचंद पर कुछ मजेदार खोज किए हैं। उनकी पहली खोज है प्रेमचंद सामंत विरोधी नहीं, अपितु 'सामंत के मुंशी' थे। उनकी दूसरी खोज है कि कानपुर में उनकी एक रखैल थी। उन्होंने 'कफन' कहानी में भी जार-संबंध सूंघा है।

प्रेमचंद पर खोज-कार्य करने वाले ये सभी शोध-कर्ता धन्य हैं। इन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास में जगह मिलनी चाहिए। इन्हें पुरस्कार और सम्मान मिलना चाहिए।

इन खोजी लोगों में अब एक नाम और जुड़ गया है–भवदेव पांडेय। इनका भी स्वागत होना चाहिए। भवदेव पांडेय ने खोज यह किया कि प्रेमचंद का पहला उपन्यास 'दुर्गादास' है, जो 1914-1915 ई. में प्रकाशित हुआ था। वे लिखते हैं–''संयोग ऐसा हुआ कि 'दुर्गादास' के प्रकाशन की दूसरी आवृत्ति नहीं हो पाई जिसके फलस्वरूप वह आज तक सन् 1914-1915 की स्थिति में ही पड़ा हुआ है। यह आश्चर्य की बात है कि प्रेमचंद के इस उपन्यास का लोग नाम तक नहीं जानते हैं।'' जब ऐसी बात है तो यह 'संयोग' कैसे हुआ! खैर, मान लीजिए यह दुर्भाग्य की बात नहीं है, यह पहली बार छपकर वैसा ही पड़ा रहा, तो आगे आप यह जानकारी भी देते हैं कि ''दिल्ली और राजस्थान के एक-दो प्रकाशकों ने दुर्गादास का प्रकाशन बिना चित्र के साथ किया था।'' अब देखिए, इन दोनों बातों में कितना सार-तत्त्व है! यह है खोज! इस खोज की वंदना की जानी चाहिए?

प्रेमचंद के शोधकर्ता अमृत राय एवं कमल किशोर गोयनका इसे जीवनी मानते हैं

और यह सूचित करते हैं कि इसका अनुवाद 1938 ई. में प्रकाशित हुआ। प्रेमचंद ने दुर्गादास के चरित्र को बालकों के सामने रखने के लिए इसे लिखा था, ताकि विद्यार्थियों में साहस, शौर्य, त्याग एवं सेवा की भावना पैदा हो सके। ऐसा उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका में स्वीकार किया है। जब प्रेमचंद इसे दुर्गादास का जीवन-चरित्र स्वयं स्वीकार रहे हैं, इसके बावजूद यदि उपन्यास विधा का ठप्पा लगाकर बिकाऊ माल की तरह इसे प्रस्तुत किया जाए, तो इसमें आश्चर्य क्या! इसमें भवदेव पांडेय का भी कोई दोष नहीं, न इस पुस्तक के प्रकाशक का। सबको अपनी रोटी सेंकनी है। फिर इसे यदि प्रेमचंद का पहला उपन्यास कहकर प्रस्तुत किया जाए, तो स्वाभाविक है, पाठकों का ध्यान इस पर जाएगा और इसकी लोकप्रियता बढ़ेगी साथ ही प्रकाशक का लाभ भी।

दुर्गादास राजस्थान के इतिहास के एक कीर्ति-स्तम्भ हैं। राजस्थान के लोक-जीवन में सदियों से उनकी एक महान् छवि अंकित है। ये एक ऐसे वीर थे, जिन्होंने औरंगजेब से सीधी टक्कर ली थी और मारवाड़ के इलाके को उसके शासन से मुक्त कराया था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी उनके चरित का बखान करते हुए 'वीरवर दुर्गादास' शीर्षक से अप्रैल, 1916 ई. की 'सरस्वती' में उनकी जीवनी लिखी थी, जो 'महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली' के खंड-5 में संकलित है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने भी दुर्गादास के चरित्र पर एक रचना लिखी है।

भवदेव पांडेय ने प्रेमचंद के मित्र और अभिभावक को भी आश्चर्यजनक ढंग से खोज निकाला है, जो हैं जगत शंखधर। वे लिखते हैं—''प्रेमचंद ने मूलतः 'दुर्गादास' उर्दू-लिपि में लिखा था जिसका हिंदीकरण प्रेमचंद के घनिष्ठ मित्र जगत शंखधर ने किया। जब प्रेमचंद कानपुर या हमीरपुर (राठ) में रहते थे तब शंखधर जी अभिभावक के रूप में प्रेमचंद के घर जाया करते थे।''

भवदेव जी! उर्दू-लिपि और हिंदी-लिपि नहीं होती। उर्दू फारसी-लिपि में लिखी जाती है। प्रेमचंद अपनी प्रायः रचनाएं उर्दू में लिखते थे बाद में उनका हिंदी रूपांतर होता था। उनकी हिंदी में लिखी पहली कहानी 'सौंत' है, जो दिसंबर, 1915 की 'सरस्वती' में छपी थी। उसके बाद 'सरस्वती' में उनकी कहानियां लगातार प्रकाशित हुई। इसलिए प्रेमचंद सबसे पहले उर्दू-भाषा के लेखक थे और उर्दू-साहित्य में उनका ऊंचा स्थान है। चूंकि उन्होंने अपनी बाद की कृतियों को उर्दू के साथ-साथ हिंदी में भी प्रकाशित किया और 'माधुरी', 'हंस' तथा 'जागरण' का संपादन कर उसमें मूल रूप से हिंदी में ही लिखा, इसलिए उन्हें हिंदी के लेखक के रूप में सबसे ऊंचा दर्जा प्राप्त है। आपने जगत शंखधर को किस आधार पर पहले प्रेमचंद का घनिष्ठ मित्र और फिर अभिभावक के रूप में प्रस्तुत कर दिया। जिस तरह डॉ. धर्मवीर ने अटकलबाजी कर कानपुर में प्रेमचंद की प्रेमिका को खोज निकाला, जिसका कोई तुक नहीं था, वैसा ही आपने जगत शंखधर को उनका अभिभावक बना दिया। प्रेमचंद जब कानपुर में थे, तब जगत शंखधर प्राथमिक पाठशाला में पढ़ रहे होंगे। वे प्रेमचंद की मृत्यु के बाद 'सरस्वती-प्रेस', बनारस में मुद्रण-कार्य देखने के लिए नियुक्त हुए थे। उस समय सरस्वती-प्रेस में शिवदान सिंह चौहान और शमशेर बहादुर सिंह भी रहते थे। इन दोनों से उनकी गहरी मित्रता हो गई थी। 1939 से 1941 तक 'कहानी' पत्रिका जब निकली, तब त्रिलोचन जी उसमें काम करते थे, इस तरह त्रिलोचन से भी उनकी मित्रता हो गई थी। 1953 ई. में जब नामवर सिंह की नियुक्ति व्याख्याता के रूप में काशी हिंदू

विश्वविद्यालय में हो गई थी और उन्हें मकान नहीं मिल रहा था, तब जगत शंखधर ने सरस्वती-प्रेस में उन्हें एक महीना तक अपने साथ रखा था।

जगत शंखधर भाषा के अच्छे जानकार थे। उनकी देखरेख में प्रकाशित पुस्तकों की छपाई-सफाई बेहतरीन होती थी। शमशेर की 'दो-आब' पुस्तक उन्होंने ही छापी थी। नामवर सिंह ने जब 'छायावाद' नामक पुस्तक लिखी तो इसे भी जगत शंखधर ने ही सरस्वती-प्रेस से प्रकाशित किया था। 'छायावाद' की नामवर सिंह द्वारा लिखित नवंबर, 1954 की भूमिका की अंतिम पंक्तियों को देखिए। उन्होंने लिखा है—''पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय आदरणीय श्री जगत शंखधर को है।'' नामवर सिंह, शमशेर एवं त्रिलोचन की तरह ही जगत शंखधर को अपना अग्रज मानते थे।

विष्णुचंद्र शर्मा 1957-58 ई. में 'कवि' नामक एक पत्रिका निकालते थे। उसके अंतिम अंक में जगत शंखधर एवं शमशेर के पत्र छपे हैं। सरस्वती प्रेस, वाराणसी से 21 फरवरी 1958 को जगत शखंधर ने शमशेर को पत्र लिखा—

प्रिय शमशेर,

'युग चेतना' में तुम्हारी कविता 'आओ!' पढ़ी। एक बार—यानी सरसरी तौर पर पढ़ने पर तो कुछ खास पल्ले न पड़ी—फिर दुबारा-तिबारा पढ़ी।...''

इस लंबे पत्र के अंत में उन्होंने लिखा है—''तुम हँसो और खीझो कि फिर क्या खास समझे। पर तुमसे मैं सब कुछ कह सकता हूं और उसी तरह सुनने की उम्मीद रखता हूं। जवाब दोगे।...Love—जगत''

इसके उत्तर में इलाहाबाद के शमशेर ने लिखा—''जगत् भाई—बहुत मेहनत कर डाली मेरी कविता के साथ। वाह मियां..असल बात यह है कि यह कविता खुद मुझे प्रिय है, मगर कभी Critically इसको नहीं देखा। अब तुम्हारा खत पढ़ता हूं तो उसके नुक्स भी समझ में आते हैं।''

अब देखिए कि जगत् शंखधर और शमशेर ने इतनी आत्मीयता और बेतकल्लुफी क्यों की? क्योंकि वे हमउम्र और दोस्त हैं। शेमशेर का प्रकाशित पहला कविता-संग्रह है—'कुछ कविताएं'। इसे जगत शंखधर ने

ही 1959 ई. में अपने पैसों से प्रकाशित किया था। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण पर छपा है, प्रकाशक-जगत शंखधर, बनारस। अब देखें कि जगत शंखधर जो 'प्रेमचंद के घनिष्ठ मित्र और अभिभावक हैं' वे शमशेर के इतने अंतरंग मित्र हैं कि अपने पैसों से उनका संग्रह छपवाते हैं। जब सरस्वती-प्रेस, बनारस को श्रीपत राय एवं अमृत राय ने बेच दिया तब वे बेघर हो गए एवं जीविका की तलाश में बनारस में ही कई जगह भटकते रहे। 1965 ई. में राजकमल प्रकाशन जब शीला संधू के हाथ में आया और उन्होंने नामवर सिंह को साहित्यिक सलाहकार बनाया, तब नामवर जी आग्रहपूर्वक उन्हें राजकमल प्रकाशन ले आए और राजकमल में उनकी नियुक्ति 'प्रोडक्शन-इंचार्ज कम-मैनेजर' के रूप में हुई। जगत शंखधर के विषय में, उनकी हिंदी-सेवा को देखते हुए, पत्र-पत्रिकाओं में काफी कुछ प्रकाशित किया जा सकता है। उन पर विस्तृत जानकारी रखने वाले नामवर सिंह के अलावा विश्वनाथ त्रिपाठी, विष्णुचंद्र शर्मा, केदारनाथ सिंह, रामदरश मिश्र आदि बनारस के कई पुराने साहित्यकार दिल्ली में ही सक्रिय हैं, इनसे बातचीत कर ही यह जाना-समझा जा सकता है कि 'प्रेमचंद के अभिभावक' जगत शंखधर कौन थे, क्या थे, कैसे थे?

प्रेमचंद की कृतियों को सही संदर्भों में देखने का कार्य रामविलास शर्मा, विजयेंद्र स्नातक, नामवर सिंह, वीरभारत तलवार आदि आलोचकों ने किया है। अमृत राय ने उनकी जीवनी लिखकर उनकी कृतियों को उनके जीवन के प्रसंगों से जोड़कर देखा है। इसके बावजूद हिंदी आलोचना की कुपाठी परंपरा के कुछ पक्षधरगण तथ्यात्मक भूल-गलत करते हुए शोध एवं खोज के स्थान पर कल्पनाशक्ति और जासूसी को प्रधानता देते हैं। और धन्य हैं वे प्रकाशक और पत्रिकाएं जो ऐसी लालबुझक्कड़ी को आश्रय या प्रश्रय देती हैं।

यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट,
हजारीबाग-825 301 (झारखंड)
e-mail : bharatyayawar@yahoo.com,
मो. 9835312665

फिल्मवार्ता

एनिमेशन फिल्मों की दुनिया

महेश्वर

भारत में एनिमेशन फिल्मों का बाजार बढ़ता जा रहा है। पौराणिक चरित्रों को लेकर बनने वाली फिल्मों की सफलता ने इस कारोबार को नया रुख दिया है। गणेश, हनुमान, श्रीकृष्ण, श्रीराम, परशुराम, बुद्ध आदि चरित्रों को लेकर बनने वाली फिल्में काफी सफल रही हैं और उनकी सफलता से प्रेरित होकर कई फिल्मों से सिक्वेल भी बने हैं।

इस समय एनिमेशन इंडस्ट्री का कारोबार 60 बिलियन डॉलर का है जो 2010 के अंत तक 90 बिलियन का हो जाएगा। भारत में इस समय एनिमेशन फिल्म का व्यवसाय 285 मिलियन डॉलर है जो 2010 के अंत तक 950 मिलियन डॉलर हो जाने की संभावना है। देखा जाए तो भारत में एनिमेशन कारोबार का 32 प्रतिशत एनिमेशन फिल्में तथा शेष 68 प्रतिशत इंटरटेंमेंट तथा विडियो गेम्स का है। कंप्यूटर तथा मोबाइल गेम्स का बहार भी बड़े शहरों की अपेक्षा छोटे तथा मध्यम शहरों में बड़ी तेजी से बढ़ रहा है।

कुछ बड़ी फिल्म निर्माता कंपनियों ने एनिमेशन के क्षेत्र में अपने पैर रखे हैं जिनमें जी टेलीफिल्म्स, शेमारू फिल्म्स, सोनी, सहारा वन मोशन पिक्चर्स, यूटीवी मोशन पिक्चर्स आदि प्रमुख हैं। इतना ही नहीं हिंदी के सदाबहार फिल्मों के निर्माता यशराज फिल्म ने वाल्ट डिजनी स्टूडियो के साथ मिलकर हिंदी में तीन एनिमेशन फिल्मों के निर्माण के लिए करार किया है जिसके तहत बनी उनकी पहली एनिमेशन फिल्म 'रोडसाइड रोमियो' प्रदर्शित हो चुकी है। इस फिल्म की कहानी एक कुत्ते के इर्द-गिर्द घूमती है। परसेप्ट पिक्चर, पेंटा मीडिया ग्राफिक्स, कॉफी ब्रेक पिक्चर्स, फोबस मीडिया क्रिएशंस, ड्रीम स्टूडियोज, पेप्रिकास आदि एनिमेशन कंपनियां अपनी मौजूदा प्रदर्शित फिल्मों से इतना उत्साहित हैं कि उन्होंने कई नई फिल्में घोषित कर रखी हैं।

हिंदी एनिमेशन फिल्मों पर नजर डालें तो यहां दो प्रकार की एनिमेशन फिल्में दिखाई पड़ती हैं। पहली पौराणिक चरित्रों पर तथा दूसरी जानवरों पर केंद्रित फिल्में। इस मसय पौराणिक चरित्रों पर आधारित एनिमेशन फिल्मों ने बड़ी घूम मचा रखी है। हनुमान तथा हनुमान रिटर्न (परसेप्ट पिक्चर), बाल गणेशा (कॉफी ब्रेक पिक्चर्स) घटोत्कच (शेमारू फिल्म्स) आदि की सफलता ने भारतीय एनिमेशन फिल्मों को एक नई दिशा दी और अवसर दिए हैं।

इनके अतिरिक्त अर्जुन (यूटीवी), रिटर्न ऑफ रावणा, कृष्ण, जंबो (राकेश मेहरा), फ्रेंड्स एंड द ट्रेप (ड्रीम स्टूडियो) तथा तिब्बती लोकथा पर आधारित सिमी नालासेठ की 'द ड्रीम ब्लैंकेट' आदि प्रदर्शन को तैयार हैं। करण जौहर अपनी हिंदी की सुपरहिट फिल्म 'कुछ कुछ होता है' की एनिमेटेड रीमेक 'कुची कुची होता है' के निर्माण में लगे हैं।

भारत के एनिमेशन फिल्मों के इतिहास पर नजर डालें तो 23 जून 1934 का दिन ऐतिहासिक महत्त्व का है। इसी दिन गुनामॅय बैनर्जी के निर्देशन में बनी फिल्म 'पी ब्रदर्स' जो न्यू थिएटर्स लिमिटेड के बैनर तले बनी थी, भारत में सर्वप्रथम प्रदर्शित एनिमेटेड फिल्म है जो सिनेमाघरों में रिलीज की गई थी। इसकी सफलता ने लोगों में उत्साह पैदा किया। 'पी ब्रदर्स' के बाद भारत में भी एनिमेशन फिल्मों की शुरूआत हो चुकी थी। इसके बाद रंजीत मूवीटोन के बैनर तले 'जंबो द फॉक्स' तथा न्यू थिएटर्स की भक्तराम मित्रा की 'मिचके पोटाश' (1951) आदि एनिमेशन फिल्में आईं।

प्रारंभ में तकनीक और संसाधनों की कमी ने एनिमेशन फिल्मों को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर नहीं दिया। भारतीय एनिमेशन फिल्म उद्योग सफलता की ऊंचाई

पर जाने से पहले ही खत्म होने के कगार पर आ गई थी। लेकिन लगभग उसी समय सूचना व प्रसारण मंत्रालय की योजनाओं ने इस उद्योग को कुछ बल दिया। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के फिल्म डिविजन, मुंबई में जहांगीर एस भावनागरे के नेतृत्व में कार्टून फिल्म यूनिट स्थापित की गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस क्षेत्र में तेजी से परिवर्तन आया था। इसके बाद कई बेहतरीन फिल्मों का निर्माण हुआ। कहा जा सकता है कि यह काल एक तरह से भारतीय फिल्म उद्योग के लिए शैशवावस्था था, लेकिन उसके विकास के लिए नित्य नए प्रयोग किए जा रहे थे। इस दौर में रंगीन फिल्मों की शुरूआत, एनिमेशन फिल्मों का निर्माण, विदेशी फिल्मों की हिंदी में डबिंग आदि जैसे काम होने लगे थे।

1956, जहांगीर एस भावनागरे के निर्देशन में 22 मिनट की इस्टमैनकलर एनिमेशन फिल्म 'राधा और कृष्णा' बनी, जिसमें विष्णुदास श्रीराली, रविशंकर और अली अकबर खान ने संगीत दिया था। इस फिल्म में भारतीय मिनिएचर पेंटिंग्स को एनिमेशन मैटेरियल्स के रूप में प्रयोग में लाया गया था। इस फिल्म ने बर्लिन इंटरनेशनल फिल्म फेस्टिवल में रजत पदक तथा इंटरनेशनल फिल्म फेस्टिवल, सैंटियागो (चिली) में भी इसे पुरस्कार मिला। कुछ अन्य अंतरराष्ट्रीय फिल्म फेस्टिवलों में जैसे जापान, कनाडा और आस्ट्रेलिया में भी इस फिल्म को प्रसिद्धि मिली।

इसी कड़ी में सुप्रसिद्ध नर्तक उदय शंकर के निर्देशन में एक और एनिमेशन फिल्म 'कल्पना' बनी, इस फिल्म में भी विष्णुदास श्रीराली ने संगीत दिया। यह पहली लाइव एक्शन फिल्म थी जिसने एनिमेशन फिल्मों को नई दिशा प्रदान की। इस फिल्म में फिल्म के अन्य तत्त्वों जैसे भाषा, लय-ताल, गीत-संगीत आदि पर विशेष ध्यान दिया गया था। जो आगे चलकर अन्य फिल्म निर्माताओं के लिए एक पाठ साबित हुआ। तथ्य कहते हैं कि इस फिल्म को मृणाल सेन और सत्यजित राय ने बाहर से तेरह बार देखा था।

कांतिलाल राठौर, प्रमोद पती, जी.के. गौडबोले, वीजी सामंत, राममोहन, भीमसेन, सतम, सुरेश नायक आदि के फिल्म डिविजन से जुड़ने के बाद इस क्षेत्र में तेजी से विकास हुआ। 1956 से 1957 के बीच फिल्म डिविजन की पहल पर तथा यूनेस्को और यू.एस. टेक्निकल ऐड प्रोग्राम के तहत डिजनी स्टूडियो के मशहूर एनिमेटर क्लैयर वीक्स को भारत बुलाया गया, जिन्होंने तत्कालीन भारतीय ऐनमेटरों राम मोहन, भीम सेन, सतम, एजरा मीर और प्रमोद पती आदि को प्रशिक्षित कर भारत में सार्थक एनिमेशन फिल्मों के मार्ग को प्रशस्त किया।

1959 में एक हिंदू जातक कथा पर आधारित 'द बनयान डियर' नामक फिल्म बनाई गई। इस फिल्म में 'अजंता फेस्को' तथा 'डिजनी ड्राइंग शैली' का प्रयोग किया गया था। इस फिल्म ने आशा से अधिक प्रशंसा बटोरी। 1961 में एजरा मीर ने 'दिस आवर इंडिया' बनाई। प्रमोद पती के निर्देशन में बनी इस फिल्म को जी.के.गोखले ने एनिमेट किया था और संगीत दिया था विजय ने। इस फिल्म को अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई थी। सामाजिक सरोकारों से जुड़ी यह फिल्म फैमली प्लानिंग पर आधारित थी। इसके बाद फिल्म डिविजन ने एक से बढ़कर एक एनिमेशन फिल्मों का निर्माण किया जिसमें 'चाओस', 'मैट्रिक सिस्टम', 'माई वाईज डैडी', 'शैडो एंड सब्स्टैंस', 'ड्रीम्स ऑफ मैजीराम' तथा 'हेल्दी एंड हैप्पी' इत्यादि। ए.आर.सेन ने एक फिल्म बनाई 'द थिंकर एंड स्कीन इन द बीन' जो काफी प्रशंसित हुई थी।

कुछ भारतीय एनिमेशन फिल्में विदेशी सहयोग से भी बनी हैं। 'द लेजेंड ऑफ रामा' पहली एनिमेशन फिल्म है जो जापान के साथ मिलकर बनाई गई है। भारती एनिमेशन फिल्म के पिता कहे जाने वाले राम मोहन के यूनिसेफ के लिए 'मीना : द गर्ल चाइल्ड' बनाई है। जिसमें परिवार में लड़की की स्थिति को दिखाया गया है।

भारत सरकार द्वारा 1955 में बाल फिल्मों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से 'चिल्ड्रंस फिल्म सोसायटी ऑफ इंडिया' की स्थापना की गई। 1995 में इसका नाम बदलकर 'नेशनल सेंटर ऑफ फिल्म फॉर चिल्ड्रन एंड यंग पीपुल्स' कर दिया गया। अब पुनः इसका नाम बदलकर 'चिल्ड्रंस फिल्म सोसायटी ऑफ इंडिया' कर दिया गया है। इस संस्थान ने कई श्रेष्ठ एनिमेशन फिल्मों का निर्माण किया जैसे 'एज यू लाइक इट' (निर्देशक सुकुमार, 1965), 'एडवेंचर्स ऑफ सुगर डॉल्स' (निर्देशक कांतिलाल राठौर, 1966), 'लवकुश' (निर्देशक के.ए.अब्बास., 1973), 'करुणा की विजय' (निर्देशक के.एस.बनसोड, 1985), 'जैसे को तैसा' (निर्देशक एम कुंटे, 1988) इन सभी फिल्मों ने राष्ट्रीय अवार्ड जीते हैं।

भारत में एनिमेशन फिल्मों के विकास में नेशनल इंस्टीट्यूटी ऑफ डिजायन के योगदान को कैसे भुलाया जा सकता है? इस संस्थान को भी क्लैयर वीक्स तथा रोजर नॉक जैसे विश्व प्रसिद्ध एनिमेटरों का सहयोग मिल चुका है। इस संस्थान ने एक से बढ़कर एक बेतरीन एनिमेशन फिल्मों का निर्माण किया है। इस संस्थान की विनीता देसाई ने 'पतंग' नामक एनिमेशन फिल्म बनाई जिसे 1985 में कलकत्ता (अब कोलकाता) में आयोजित 'शार्ट वन' नामक फिल्म फेस्टिवल में प्रथम पुरस्कार मिला। इन्हीं ने 'शुभ विवाह' नामक एक और फिल्म बनाई जो भारतीय समाज की सबसे बड़ी विकृति दहेजप्रथा का विरोध करती है।

प्रकाश मूर्ति ने गुजराती लोककथा पर आधारित एक फिल्म 'जंगल किंग' का निर्माण किया। जिसे रूस में आयोजित फिल्म फेस्टिवल में भारत का प्रतिनिधित्व करने का अवसर मिला। मूर्ति ने आगे-आगे चलकर 'प्रोआगोनस्ट' (1988), 'द प्रोग्रेस रिपोर्ट' (1994) तथा 'स्क्वायर और हाइपोटेन्यल' (1995) बनाई जिसे अंतरराष्ट्रीय ख्याति मिली।

भारत की एनिमेशन फिल्म उद्योग एक लंबी यात्रा तय करने के बावजूद उस ऊंचाई को नहीं प्राप्त कर पाई है, जितनी ऊंचाई उसे प्राप्त होना चाहिए। यहां एनिमेशन को अगंभीर विधा माना जाता है तथा यह माना जाता है कि वह बच्चों की चीज है। जबकि पश्चिम में ऐसा नहीं है। वहां बड़े भी बड़ी गंभीरता तथा सजगता से एनिमेशन फिल्में देखते हैं और उसे पसंद करते हैं। तभी तो वहां की एनिमेशन फिल्में इतनी विकसित और तकनीकी स्तर पर उत्कृष्ट हैं।

हाल के दिनों में एनिमेशन फिल्मों के बाजार बढ़ने के संकेत मिलने लगे हैं। अब ऐसा लगता है कि इस तरह की फिल्मों के लिए भी एक दर्शक वर्ग तैयार हो रहा है तथा यहां इसे भी गंभीरता से लिया जा रहा है। एनिमेशन फिल्मों के निर्माण से लोगों को यह आभास हो चला है कि अब किसी एनिमेशन फिल्म में लगाया गया पैसा डूबेगा नहीं कम-से-कम अपनी लागत से दुगुनी रकम तो कमा ही लेगा। इन दिनों पौराणिक चरित्रों पर बन रही फिल्में यह दिखलाती हैं कि नए जमाने में आने वाली पीढ़ियों को अपनी विरासत से परिचित कराने का यह एक सशक्त माध्यम है। जिसे और निखारने की आवश्यता है।

203-ई, महानदी हॉस्टल, जे.एन.यू., नई दिल्ली-110067, मो. 9968012866, 8860424182

तट पर तटस्थ नहीं

अनंत विजय

रामचंद्र गुहा आजाद भारत के एक ऐसे इतिहासकार हैं, जिन्होंने इतिहास लेखन को मार्क्सवादी ढर्रे से मुक्त करके इसे लोकप्रिय बनाया। उनकी शैली शास्त्रीय इतिहास-लेखन से बिल्कुल अलग हटकर है जिसे इतिहास के विद्यार्थियों के अलावा आम पाठकों ने भी सराहा है। जब रामचंद्र गुहा की किताब 'इंडिया ऑफ्टर गांधी' प्रकाशित हुई थी तो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उसकी सराहना हुई। उस वक्त कई अंतरराष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं ने उसे बुक ऑफ द ईयर कहा था जिसमें प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित पत्रिका इकोनॉमिस्ट के अतिरिक्त वॉल स्ट्रीट जर्नल और वाशिंगटन पोस्ट प्रमुख हैं। विदेश के कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाने के अलावा गुहा ने बैंगलुरु के मशहूर इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस में भी पढ़ाया था। फिलहाल वे स्वतंत्र लेखन के अलावा अखबारों में स्तंभ लेखन करते हैं।

'इंडिया ऑफ्टर गांधी' के बाद रामचंद्र गुहा ने जब अपनी नई किताब का ऐलान किया था तभी से इस किताब की प्रतीक्षा हो रही थी। अपनी इस नई किताब 'मेकर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया' में उन्होंने उन्नीस भारतीय नेताओं के बारे में लिखा है और उनके विचारों को भी संकलित किया है। रामचंद्र गुहा के मुताबिक उन्होंने उन महिला और पुरुष नेता या सामाजिक कार्यकर्ता या समाज सुधारक को अपनी इस किताब में जगह दी है, जिन्होंने स्वतंत्रतपूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत को अपने लेखन और भाषण से गहरे तक प्रभावित किया। लेखक के मुताबिक ये उन्नीस भारतीय लोग सिर्फ राजनेता ही नहीं थे बल्कि उन्होंने अपने लेखन से भी समाज और देश को एक नई दिशा दी।

इस किताब के पांच खंड हैं। पहले खंड में राजा राममोहनराय और विभिन्न विषयों पर उनकी राय को संकलित किया गया है। यह किताब राजा राममोहनराय से शुरू होती है जो लेखक के मुताबिक पहले भारतीय विचारक थे जिन्होंने पश्चिम की चुनौतियों को बेहद गंभीरतापूर्वक लिया। एक तरह से हम कह सकते हैं कि राजा राममोहनराय आधुनिक भारत के पहले ऐसे विचारक थे जिन्होंने अंधविश्वास और कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष का बिगुल फूंका था। किताब के दूसरे खंड में जिन पांच लोगों—सैयद अहमद खान, ज्योतिबा फूले, बालगंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले और ताराबाई शिंदे—के बारे में लिखा गया है या जिनके अहम विचार संकलित किए गए हैं उनमें से दो लंबे समय तक कांग्रेस के सदस्य रहे थे और उसी विचारधारा में जीते-मरते थे, जबकि दूसरे दो अन्य कांग्रेसी विचारधारा के खिलाफ थे। तीसरा खंड मोटे-तौर पर महात्मा गांधी के जीवन और दर्शन के इर्द-गिर्द हुई बहसों पर केंद्रित हैं। गांधी के बारे में गुहा लिखते हैं—अपने जीवनकाल में ही गांधी को राष्ट्रपिता का दर्जा प्राप्त हो गया था लेकिन वे साथ ही उन सारे विवादों की जननी भी थे, जो देश के भविष्य को लेकर उस वक्त चली थी। गांधी का जीवन जिस तरह से आम जनता के लिए एक खुली किताब थी और उनके आचरण को लेकर जैसा विवाद उठा था वैसा किसी दूसरे नेता को लेकर अब तक नहीं देखा गया। गांधी के बाद रामचंद्र गुहा भारतीय गणतंत्र के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को आधुनिक समय का सबसे विचारवान राजनेता मानते हैं। उनके मुताबिक विंस्टन चर्चिल भी नेहरू जैसे विचारशील राजनेता नहीं थे। नेहरू की अपने देश के इतिहास में बेहद रुचि थी, साथ ही राजनीतिक विचारधारा, नए विचारों और आइडियाज में भी उनकी गहरी दिलचस्पी थी जो उन्हें विश्व राजनीति के पटल पर चर्चिल से अलग खड़ा करता था। इसके अलावा रामचंद्र गुहा ने रवीन्द्र नाथ टैगोर, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, एम.एस. गोलवलकर आदि के बारे में भी अपनी राय रखी है। लेकिन इस किताब में आधुनिक भारत के तीन अहम किरदार—सुभाष चंद्र बोस, सरदार वल्लभ भाई पटेल और इंदिरा गांधी को ओझल करना चौंकाने वाला है। इसके लिए लेखक के अपने तर्क हैं। उनका कहना है कि इस किताब में उन्हीं लोगों को जगह मिली जिनके पास अपने विचार थे, ऐसे विचार जो न सिर्फ मौलिक थे बल्कि समाज को प्रभावित करने वाले भी थे। गुहा के मुताबिक सुभाष चंद्र बोस हमारे देश के महान नेता थे जिन्होंने तीस और चालीस के दशक में भारत के लोगों को अंग्रेजी शासन के खिलाफ खड़े होने के लिए प्रेरित किया। ठीक उसी तरह सरदार वल्लभ भाई पटेल ने देश को एकसूत्र में बांधने तथा इसे एक राष्ट्र का रूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। लेकिन, लेखक के मुताबिक दोनों के पास मौलिक विचारों का अभाव था। हालांकि पटेल हमेशा यह कहा करते थे कि इतिहास लेखन से ज्यादा इतिहास बनाने में यकीन करते थे। इसी तरह तरकीबन डेढ़ दशक तक भारत की प्रधानमंत्री रहीं इंदिरा गांधी को भी मेकर्स ऑफ इंडिया में शुमार नहीं किए जाने का लेखक का तर्क है कि उन्होंने मौलिक कुछ नहीं लिखा। यहां तक कि उनके पिता जवाहर लाल नेहरू के विपरीत उनका भाषण भी कोई और ही लिखता था। इन तीन शख्सियतों को अपनी किताब में शामिल नहीं किए जाने पर आलोचकों ने रामचंद्र गुहा को कठघरे में खड़ा किया लेकिन मुझे लगता है कि लेखक को इतनी छूट तो होनी ही चाहिए कि वह जिसे

चाहे अपनी रचना में शामिल करे और उसके लिए उसके अपने वाजिब तर्क हों। आलोचना इस बात की जा सकती है कि लेखक ने चुनाव के जो मानदंड अपनाए उसका निर्वाह किस तरह किया या उसमें कहीं वस्तुनिष्टता की कमी तो नहीं है। गुहा ने लिखा है कि भारत एक बेहद मजेदार देश है। मजेदार वह इसलिए नहीं है कि उसकी जनसंख्या विशाल है, मजेदार वह अपनी विविधताओं को लेकर भी नहीं है। मजेदार वह इसलिए है कि वहां एक साथ पांच सामाजिक बदलाव घटित हो रहे थे–शहरी विकास के क्षेत्र में क्रांति, औद्योगिक क्रांति, राष्ट्रीय क्रांति, लोकतांत्रिक क्रांति और सामाजिक क्रांति।

लेखक के मुताबिक इस किताब में उन्हीं महिलाओं और पुरुषों का चयन किया गया है जिन्होंने इन पांच क्रांतियों में न केवल अपनी भूमिका का निर्वाह किया है, बल्कि उसको अपने विचारों और लेखन से एक दिशा भी दी है। लेकिन लेखक के इन्हीं तर्कों के आधार पर देश के प्रथम राष्ट्रपति और संविधानसभा के अध्यक्ष डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद का इस किताब में विस्मरण विस्मित करने वाला है। डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने न केवल विपुल मौलिक लेखन किया है जिसमें उनकी आत्मकथा भी शामिल है, बल्कि नेहरू को लिखे पत्र में अपने पड़ोसी देश चीन से आसन्न खतरे का संकेत भी दिया था। लेकिन तब नेहरू सेक्यूलर थे और उनकी दृष्टि में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद हिंदू पुरात्थानवादी। इस प्रसंग में सोमनाथ मंदिर के जीर्णोद्धार के अवसर उनकी उपस्थिति और नेहरू की असहमति ही नहीं आकाशवाणी से उनके कार्यक्रम का 'ब्लैक आउट' करवाना चिन्ताजनक है। बल्कि अपने लेखन से तत्कालीन समाज पर अमिट छाप भी छोड़ी। उनके लेखन में, हम यह कह सकते हैं, कि समाज सुधार के अलावा शिक्षा पर भी खासा जोर है। लेकिन लगता है कि जिस तरह से राजेन्द्र प्रसाद को उनकी मौत के बाद साजिश की तहत कांग्रेस की पहल पर देश ने भुला दिया रामचंद्र गुहा भी उसके शिकार हो गए हैं। राजेन्द्र बाबू संविधान सभा के अध्यक्ष थे लेकिन संविधान निर्माता का दर्जा भीमराव अंबेडकर को प्राप्त है यह भी शोध का विषय हो सकता है। चिंता की बात यह भी है कि भारत के पहले राष्ट्रपति की मूर्ति संसद भवन के परिसर के बाहर है और मोतीलाल नेहरू भीतर हैं। इसके अलावा गुहा ने कुछ ऐसे चिंतकों को शामिल कर उनसे हमारा परिचय कराया है जो लगभग विस्मृत हो चुके हैं। जैसे ताराबाई शिंदे और हामिद दलवई। इसके अलावा गुहा का दावा है कि उनकी इस किताब में जिस चिंतक राजनेता की एक समद्ध परंपरा दिखाई देती है अब लगभग मृतप्राय है। लेखक के मुताबिक अभी के परिदृश्य में कोई भी ऐसा राजनेता नहीं है जो अपने चिंतन और मौलिक लेखन से भारतीय समाज को प्रभावित कर सके या फिर यह समझ सके कि समाज और राजनीति में किस तरह के बदलाव की जरूरत है।

इस किताब में रामचंद्र गुहा ने सभी विचारधारा के लोगों को जगह दी है। एक तरफ सैय्यद अहमद खान हामिद दलवई हैं तो दूसरी तरफ महादेव सदाशिव गोलवलकर हैं। सन् 1960 में हामिद दलवई की मुस्लिम समाज की समस्याओं को लेकर जैसी चिंता दिखाई देती है उससे आज भी भारत का मुस्लिम समाज टकरा रहा है। दलवई के मुताबिक जो रूढ़िवादी हिंदू भारत में गाय के वध पर पाबंदी की बात करते हैं और जो सांप्रदायिक मुसलमान अपने समाज में आधुनिकता का विरोध करते हैं–दोनों के मकसद समान हैं। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि एक समुदाय में आधुनिकता का विरोध दूसरे समुदाय में आधुनिकता की प्रक्रिया पर भी वैसा ही प्रभाव डालता है। इस वजह से हमें भारत के नागरिकों के लिए एक समान कानून पर जोर देना चाहिए। दूसरी तरफ उन्नीस सौ चालीस में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कमान संभालने वाले गोलवलकर के उग्र विचार हैं जो हिंदू राष्ट्र की राह में मुस्लिम, क्रिश्चियन और कम्युनिस्ट को सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। इसमें गोलवलकर के जो भाषण संकलित हैं कुछ दिनों पहले पीलीभीत में दिए गए वरुण गांधी के भाषण की याद दिलाते हैं।

इन चिंतक राजनेताओं में गुहा ने संपूर्ण क्रांति के जनक जयप्रकाश नारायण को शिद्दत से याद किया है। जयप्रकाश नारायण को देश के लोग उन्नीस सौ बयालीस के भारत छोड़ो आंदोलन के एक अहमद किरदार के रूप में तो जानते ही थे लेकिन उन्नीस सौ चौहत्तर से शुरू हुए इंदिरा गद्दी छोड़ो आंदोलन ने उन्हें देश की दूसरी आजादी का लोकनायक बना दिया। जयप्रकाश नारायण ने उन्नीस सौ उनसठ में ही एक वैकल्पिक राजनीतिक व्यवस्था का खाका खींचा था। देश में बढ़ते भ्रष्टाचार से चिंतित जेपी ने उस पर लगाम लगाने के लिए सत्ता में जनता की सीधी भागीदारी की वकालत की थी। जयप्रकाश नारायण का मानना था कि सरकारी अफसरों पर जनता का सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से सीधा नियंत्रण रहे और उनकी ही निगरानी में काम करें ताकि काम बेहतर हो और भ्रष्टाचार की गुंजाइश कम-से-कम हो।

इस किताब में जो एक अहम बात है वह यह है कि रामचंद्र गुहा ने इतिहास को बेहद रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इतिहास का विद्यार्थी होने की वजह से मुझे ए.एल. बैशम से लेकर रामशरण शर्मा, डी.एन.झा., बिपिन चंद्रा और रोमिला थापर तक की किताबें पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मैं यह कह सकता हूं कि जितनी रोचकता और पठनीयता रामचंद्र गुहा की किताब में है, उतनी उन इतिहासकारों की पुस्तकों में नहीं। हालांकि इस किताब में रामचंद्र गुहा का अपना लेखन बेहद कम है लेकिन जिस तरह से उन्होंने नेताओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लेखन को संकलित किया है वह बेहद की श्रमसाध्य काम है। राममोहन राय से लेकर जयप्रकाश नारायण तक एक बहुत ही लंबा तकरीबन सौ साल का वक्त है जिसमें से उनके चुनिंदा भाषण और लेखन को संकलित कर प्रमाण के साथ गुहा ने भारत के इतिहास को उसके नेताओं और समाज सुधरकों के नजरिए से पेश किया है। गुहा की इस किताब में मेकर्स के चयन पर विवाद हो सकता है लेकिन हम यह कह सकते हैं कि 2010 में प्रकाशित यह किताब भारतीय इतिहास की दृष्टि से बेहद अहम है। बेशक उनके दृष्टिकोण और स्वातंत्र्योत्तर इतिहास की समझ को लेकर, प्रश्नचिह्न उठाए जा सकते हैं।

मेकर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया/संपादक–रामचंद्र गुहा, पेंग्विन बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, ₹ 799

321, बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201014, फोन-09871697248, ई-मेल : anant.ibn@gmail.com

हिंदी साहित्य : वर्ष 2010 : एक चयन

उपन्यास

1. काटना शमी का वृक्ष पद्मपंखुरी की धार से–सुरेन्द्र वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
2. 17 रानडे रोड–रवीन्द्र कालिया, प्रकाशक–वही, ₹ 300
3. रावी लिखता है–अब्दुल बिस्मिल्लाह, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, ₹ 200
4. चीलवाली कोठी, सारा राय, हार्पर कालिंस पब्लिशर्स, इंडिया, ए-53, सेक्टर-57, नोएडा-201301, ₹ 250
5. वजह दीवानगी नहीं मालूम, विनोद कुमार श्रीवास्तव, संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़–245101, ₹ 250
6. सीढ़ियों पर चीता–तेजिन्दर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, ₹ 200
7. शिगाफ–मनीषा कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक–वही, मूल्य 300
8. आदिग्राम उपाख्यान–कुणाल सिंह, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ₹ 200
9. ये वो सहर तो नहीं–पंकज सुधीर, वही, ₹ 200
10. क्रांति कक्का की जन्म शताब्दी–रवींद्र वर्मा–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, ₹ 250

कहानी संग्रह

1. यहां तक–राजी सेठ
2. मिट्टी के लोग–एस.आर. हरनोट, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)
3. यूटोपिया–वंदना राग, प्रका.राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, ₹ 250
4. कुछ रंग बेनूर–सूर्यनाथ सिंह, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णानगर, दिल्ली-110032, ₹ 175
5. एक घर की डायरी, रमेश उपाध्याय, प्रका.-शब्द संधान, पश्चिम विहार, नई दिल्ली, ₹ 350
6. रात बाकी एवं अन्य कहानियां–रणेंद्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 200
7. कालगर्ल–विमल कुमार, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 150
8. आखिरी बूँद खुशबू–जाहिदा हिना, प्रकाशक–वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002 ₹ 250
9. सरकती रेत–नीलम शंकर–प्रकाशक, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, ₹ 295
10. सावंत आंटी की लड़कियां–गीत चतुर्वेदी–राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 225
11. भूख तथा अन्य कहानियां, सुभाष शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, ₹ 150
12. तीसरी बीवी–अभिज्ञात, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 150
13. अनकही–जयश्री राय, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, ₹ 150

कविता

1. जहां एक उजाले की रेखा खिंची है, नंद चतुर्वेदी, बोधि प्रकाशन, एफ-77, सेक्टर-9, रोड नं. 11, करतापुरा इंडस्टियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-302006, ₹ 10
2. भीगे डैनों वाला गरुण–विजेन्द्र, वही–₹ 10
3. पत्थर फेंकता है–चंद्रकान्त देवताले,
4. उसे लौट आना चाहिए–सुदीप बनर्जी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 150
5. लिखे में दुक्ख–लीलाधर मंडलोई, राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 150
6. खुदाई में हिंसा–बद्रीनारायण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 200
7. खत्म नहीं होती बात–बोधिसत्व, वही, ₹ 200
8. इसी हवा में अपनी भी दो-चार सांस हैं–अष्टभुजा शुक्ल, वही, मूल्य : 200
9. घर के बाहर घर–विष्णु नागर, अंतिका प्रकाशन, सी-56, यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, ₹ 100
11. जिंदगी का मुकदमा–ले.स्वप्निल श्रीवास्तव, पुनर्नवा प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़, ₹ 150
12. गहन है यह अंधकारा–उपेंद्र कुमार, शिल्पायन, दिल्ली, मूल्य : 150
13. चिमनी पर टंगा चांद–सुरेश यादव, शिल्पायन, दिल्ली, मूल्य : 150
14. न लौटे फिर कोई इस तरह–मोहन कुमार डहेरिया, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 125

आलोचना

1. हिंदी का गद्य पर्व, डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 350
2. प्रेमचंद और भारतीय समाज–डॉ. नामवर सिंह, वही, ₹ 250
3. कविता की जमीन और जमीन की कविता, डॉ. नामवर सिंह, वही, ₹ 250
4. हाशिया–नंदकिशोर नवल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, ₹ 300
5. कहानी समय–कृष्ण मोहन, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 350
6. समकालीनता और साहित्य–राजेश जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 450
7. मन्नू भंडारी : सृजन के शिखर–संपादक सुधा अरोड़ा–किताब घर, 24, अंसारी रोड़, नई दिल्ली-110002, ₹ 550
8. शिलाओं पर तराशे मजमून–धनंजय वर्मा, सं. विश्व रंजन, शिल्पायन,

दिल्ली, ₹ 600

9. आधुनिक हिंदी उपन्यास–खंड-2, सं. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 600
10. ऋग्वेद और डॉ. रामविलास शर्मा–हृदयनारायण दीक्षित, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 325
11. समकालीन कविता और मार्क्सवाद–आशुतोष कुमार, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 350

नाटक, फिल्म, व्यंग्य

1. भारत एक बाजार है–विष्णु नागर, राजकमल प्रकाशन, ₹ 200
2. अलग–ज्ञान चतुर्वेदी, वही, ₹ 395
3. अमली (नाटक)–हृषीकेश सुलभ, राजकमल प्रकाशन, ₹ 150
4. कैमरे की तीसरी आँख–राधू करमाकर (राजकपूर की फिल्मों के सिनेमोटोग्राफर)
5. राजकपूर : सृजन प्रक्रिया–जयप्रकाश चौकस, राजकमल प्रकाशन, ₹ 500
6. टेलीविजन और क्रामक रिर्पोटिंग, वर्तिका नंदा, राजकमल प्रकाशन, ₹ 500
7. फिल्म का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा–सं. कमला प्रसाद, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 350

स्त्री-दलित विमर्श

1. दलित साहित्य और विमर्श के आलोचक–कंवल भारती, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 300
2. आधुनिक भारत में पिछला वर्ग–संजीव खुदशाह, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 200
3. दलित साहित्य : वेदना और विद्रोह–सं. शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, ₹ 695
4. साहित्य के दलित सरोकार–कृष्णदत्त पालीवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹
5. जनसंख्या समस्या के स्त्री पाठ के रास्ते–रवीन्द्र कुमार पाठक
6. पत्तों में कैद औरतें–शरद सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
7. दलित मुक्ति संघर्ष और कथा साहित्य–इकरार अहमद, नवराज, नई दिल्ली, ₹ 300
8. स्त्री : यौनिकता बनाम आध्यात्मिकता, प्रमीला के.पी., राजकमल प्रकाशन, ₹ 200
9. पाकिस्तानी स्त्री : यातना और संघर्ष–जाहिदा हिना–₹ 200

आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, डायरी, पत्र, वैचारिक, साक्षात्कार और यात्रा-वृतांत

1. प्रभाष जोशी : याद, संवाद, विवाद और प्रतिवाद–शिल्पायन, सं. आलोक तोमर/ कृपाशंकर, ₹ 400
2. देहरी पर पत्र और चिट्ठियों के दिन–निर्मल वर्मा, सं. गगन गिल, वाणी प्रकाशन, ₹ 325
3. अंधेरे में जुगनू (संस्मरण), अजित कुमार, किताबर घर, नई दिल्ली, ₹ 240
4. कितने शहरों में कितनी बार (संस्मरण), ममता कालिया, राजकमल प्रकाशन, ₹ 300
5. मेरा बचपन कंधे पर (आत्मकथा), श्यौराज सिंह बेचैन, वाणी प्रकाशन, ₹ 695
6. मुर्दहिया (आत्मकथा), तुलसीराम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ₹ 250
7. लगता नहीं है दिल मेरा (आत्मकथा), कृष्णा अग्निहोत्री, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
8. स्मृति में रहें वे (संस्मरण) शेखर जोशी, संभावना प्रकाशन, हापुड़, ₹ 300
9. पूश्किन के देश में (यात्रा), महेश दर्पण, संभावना प्रकाशन, हापुड़, ₹ 395
10. घर और अदालत (आत्मकथा), लीला सेठ, पेंगुइन यात्रा बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110001, ₹ 325
11. यातना, संघर्ष और मुक्ति (साक्षात्कार–राजेन्द्र यादव), सं.–अजय नावरिया, ₹ 250
12. तट पर हूं, पर तटस्थ नहीं, (साक्षात्कार कुंवरनारायण), सं. विनोद, राजकमल प्रकाशन, ₹ 250
13. नौटंकी की मलिका : गुलाब बाई– दीप्तिप्रिया महरोत्रा, पेंगुइन यात्रा बुक्स, नई दिल्ली, ₹ 199
14. दि ट्रूथ अवाउट मी–ए.रेवती–पेंगुइन
15. एक ही जीवन में (आत्मकथा)–महाश्वेता देवी, प्रकाशन संस्थान, अंसारी रोड, नई दिल्ली, ₹ 150
16. प्रतिरोध की विरासत और वैश्विक पूंजी का प्रभुत्व–रामशरण जोशी, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 450
17. भूमंडलीकरण के दौर में समाज और संस्कृति–सुरेश पंडित, शिल्पायन, दिल्ली, ₹ 350

विशेष–'पुस्तक-वार्ता' के आगामी अंकों में भारतेंदु-युग से लेकर बीसवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण 100 पुस्तकों की एक सूची प्रस्तुत की जाएगी।